
Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class No. 891.38
Book No. I44K
Reg. No. 2138

यह पुस्तक आठ कहानियों का संग्रह है जिसमें श्री जोशी जी ने कल्पना की उड़ान न भर कर आप बीती तथा देखी-सुनी घटनाओं का ही निरूपण किया है। यद्यपि कहानियों की घटनाएँ आज के संसार की साधारण घटनाएँ हैं फिर भी जोशी जी ने अपनी कलापूर्ण लेखनी से उसे ऐसा सजाया है कि दृष्टि डालते ही कहानियों को आद्योपान्त पढ़े बिना पाठक को चैन नहीं मिलता। ये कहानियां आधुनिक सामाजिक चित्र का सुन्दर निरूपण हैं और अपनी सुकोमल, सरस, सुस्पष्ट तथा कलात्मक शैली से जिज्ञासु पाठक की पिपासा बुझाने के साथ ही साथ उसे मानव-जीवन-संग्राम के विभिन्न पहलुओं की शिक्षा भी प्रदान करती हैं। संग्रह का समाज-संगठन में अच्छा व्यापक प्रभाव पड़ेगा जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

८४९
कहानियाँ

खंडहर की आत्माएँ

इलाचन्द्र जोशी



कि ता ब म ह ल
इलाहाबाद बम्बई

प्रकाशक—किताब महल ५६—ए जीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—अभ्युदय प्रेस, प्रयाग

विषय-सूची

परिणीता

अभी तक उस विराट भवन की स्मृति मेरे मन में ताजी है जिसके विस्तृत आँगन में मेरा क्रीड़ा-प्रेमी शिशु-हृदय आनन्द की किलकारियाँ मारा करता था। वहाँ मैं कभी अपने समवयसी बच्चों के साथ आँख-मिचौनी खेलता था, कभी बिना रंदा की हुई लकड़ी के 'बैट' और भुट्टे की खुखड़ी के बाल से क्रिकेट और कबड्डी के खेल में अपने को तन्मय पाता था। पर उस आँगन का आकर्षण मेरे लिए केवल इसीलिए नहीं था कि वहाँ पर खेल के साथी जुट जाते थे (वे साथी जिनमें से बहुतों को मेरी अकृतज्ञ स्मृति भूल चुकी है), बल्कि इस कारण भी कि वहाँ प्रतिदिन ऐसे-ऐसे विचित्र प्राणियों के दर्शन होते थे, जिन्हें भूलना चाहने पर भी मैं आज तक नहीं भूल पाया हूँ।

उन्नीसवीं शताब्दी के सामंती युग के वैभव-विलास से पूर्ण उस भवन में जो दास-दासियाँ काम करती थीं उनमें से प्रत्येक की एक निजी विशेषता थी। ऐसा लगता था जैसे सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों की तरह उन सबको विशेष-विशेष शारीरिक तथा मानसिक 'गुणों' के कारण विभिन्न स्थानों से बड़ी खोज-बीन के बाद लाकर वहाँ एकत्र किया गया हो। उनमें से एक के गले के एक-एक सेर वजन के मांसपिंड नीचे लटकते हुए दिखायी देते थे। दूसरा वज्र बहरा था, जो कान के पास तोप चलाये जाने पर भी शायद न सुन पाता, पर दूर से केवल फुसफुसाने — बल्कि होंठों को केवल (शब्दोच्चारण के अनुसार)

हिलाने—से अक्षर-अक्षर समझ लेता था। तीसरा कुबड़ा, बहरा (बज्र-बहरा नहीं) और गूँगा—तीनों था, पर था बड़ा रसिक। यदि कोई रंग-रस की बात वह किसी तरह सुन और (अपनी बुद्धि के अनुसार) समझ पाता तो परिपूर्ण आनंद से, एक विचित्र मुद्रा में, बहुत देर तक हँसता रहता। तब उसकी जलेबियों की-सी आँखें एक अनोखे भौतिक उल्लास से बाहर को उछलती हुईं न जाने किस चाशनी का रस टपकाने लगतीं। उस अवस्था में उसके दोनों गालों की हड्डियाँ जैसे फूल उठतीं और ठुड्डी के बाहर का मांस नीचे लटककर झूलने लगता। चौथा नौकर भी कुबड़ा था और उसके कपाल के उत्तर-पश्चिमी भाग में एक गेंद के आकार की बलौड़ी थी। वह एक बूढ़े बैल की तरह लगता था और उसके गले की आवाज भी ठीक बूढ़े बैल की ही तरह घहराती हुई मालूम होती थी। पाँचवाँ नौकर एक पाँव से लँगड़ा और बाईं आँख से ऐंचाताना था। उसके ऐंचाताना होने के गुण को उसके लँगड़ेपन की विवशता दबा नहीं पायी थी। वह नाट्य-कला में प्रवीण था और काम की कमी की पूर्ति भँड़ैती द्वारा करके मालिकों को खुश रखता था।

दासियाँ भी कुछ कम विचित्र नहीं थीं। उनमें से एक थी एकाक्षी। रंग उसका गोरा था। दाहिनी आँख को छोड़कर शेष सभी अंगों की आकृति सुन्दर थी। वह अपनी दाहिनी आँख को घूँघट से ढके रहती थी। इसलिए पहली दृष्टि में प्रत्येक युवक उसके रूप-लावण्य को देखकर चकित रह जाता था।

एक और दासी थी जो अपनी निजी विशेषता रखती थी। उसी का परिचय देने के उद्देश्य से वर्तमान 'संदर्भ' लिखा जा रहा है। वह 'गूंगी' थी, पर मूक नहीं थी, बल्कि मुखरा ही थी। उसके बोलने में गूंगेपन का पुट काफी रहता था, फिर भी उसका एक-एक शब्द स्पष्ट समझ में आ जाता था। रंग उसका भी गोरा था। बाल उसके सदा बिखरे रहते थे। मुँह पर असंख्य झुर्रियाँ वर्तमान थीं। जब वह हँसती

थी (वह अक्सर साधारण से साधारण बात पर भी खूब हँसती थी) तब उसके माथे पर, और आँखों के नीचे से गालों से होकर ठुड्डी तक असंख्य गहरी रेखाएँ सुस्पष्ट रूप में इस तरह परिस्फुट हो उठती थीं, जैसे पृथ्वी के नक्शे पर खींची गयी अक्षांश की रेखाएँ। उस अवस्था में उसके दाँतों के दोनों अत्यधिक उभरे हुए लाल जबड़े भी विचित्र रूप से बाहर निकल आते। उसके दाँतों का चार-बटा पाँच हिस्सा उन जबड़ों के भीतर ही छिपा होने से बाहर दो सफेद रेखाओं की एक परछाँईं के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखायी देती थी। वह एक काले रंग का अधफटा लहँगा लपेटे रहती थी और एक युगों की गंदगी से भरे हुए ओढ़ने के एक छोर को कमर से बाँध कर दूसरे छोर को पगड़ी की तरह सिर पर बाँध लेती थी। चाल उसकी बहुत धीमी थी—प्रायः लँगड़ाती हुई-सी। आप चाहें तो उसे गजगामिनी भी कह सकते हैं। पर गति की उस मंथरता के बावजूद रात में कुछ घंटे सोने के सिवा और सब समय वह किसी न किसी काम में व्यस्त रहती थी।

उसका यथार्थ नाम मैं अभी नहीं बताऊँगा। इसके कुछ विशेष कारण हैं। इस समय आप लोग उसका नाम सेवती मान लें। सेवती से मैं बचपन से परिचित था और जब से मुझे उसकी याद है, तबसे लेकर प्रायः पचीस वर्ष बाद भी मैंने उसकी आकृति-प्रकृति में, उसके स्वास्थ्य में, उसकी गतिविधि में कभी तनिक भी अन्तर नहीं पाया। केवल एक अन्तर बाद में हो गया था। पहले वह एक विशाल संयुक्त परिवार की दासी थी, बाद में जब संपत्ति के साथ ही साथ दास-दासियों का भी हिस्सा-बाँट हो गया, तब सेवती एक विधवा महिला के भाग में आयी। उन विधवा महिला का केवल दो प्राणियों का परिवार था—वह और उनकी एकलौती लड़की। सेवती को मिलाकर कुल तीन प्राणी उस आंशिक परिवार में थे।

पर इस विभाजन से सेवती के काम का भार कुछ हल्का हो गया

हो, ऐसा नहीं। बल्कि वह कुछ बढ़ ही गया था। संयुक्त परिवार में उसके काम की कोई निर्दिष्ट रेखा नहीं थी, और न कोई उत्तरदायित्व ही था। पर विभाजन के बाद एक निश्चित परिवार के सभी कामों का पूरा भार उसके ऊपर आ पड़ा। किन्तु इससे उसके काम में न तो कोई शिथिलता ही आयी और न कोई खिन्नता। काम से तो उसका बराबर वैसा ही संबन्ध रहा जैसा भूख और नींद से—बल्कि शायद उससे भी अधिक। एक क्षण के लिए भी खाली बैठे रहने, अथवा दो-पहर में सोने या गपशप करने में भी कोई सुख है, इसकी कल्पना उसके गूँगेपन में (वाणी की तरह उसका मन भी गूँगा था) कभी उठी होगी ऐसी कल्पना मैं कभी न कर सका। (हालाँकि बाद में उसके मन के अज्ञात स्थान में अचानक किसी एक अज्ञात बीज के पनप उठने के कारण जो अप्रत्याशित परिवर्तन उसके स्वभाव में मैंने देखा उसने मेरी आँखें खोल दीं। पर इसका उल्लेख बाद में करूँगा।)

खण्ड-परिवार में सुनिर्दिष्ट और बँधे हुए कामों के उत्तरदायित्व की अनुभूति ने उसके जड़ मन में भी जैसे एक विशेष चेतना की लहर दौड़ा दी। प्रतिदिन के भोजन के लिये धान कूटना, चक्की पीसना, आधे मील की चढ़ाई से पानी लाना, चूल्हा जलाना, कपड़े धोना, बाजार जाना, ये सब काम तो लगे ही थे, और इन्हें वह नियमित रूप से, बिना तनिक भी शिकायत या थकावट की अनुभूति के करती ही थी; पर इनसे भी अधिक जो महत्त्वपूर्ण काम उसे सौंपा गया था वह था अवकाश मिलने पर तीन साल की बच्ची को खेलाना। यद्यपि रेवती को इस अन्तिम काम के लिये अवकाश अत्यन्त स्वल्प मिलता था, पर इसी एक काम के लिये जैसे वह चौबीसों घंटे लालायित रहती थी। जैसे इसी एक काम के लिये अवकाश मिलने की आशा से वह अपने दिन भर के कार्य-भार को प्रसन्न-मन से ढोये लिये जाती थी। किसी दिन ऐसा भी होता कि वह एक क्षण के लिए भी बच्ची को खेलाने का

अवकाश न पाती। उस दिन उसकी खिन्नता की सीमा न रहती। शायद उस दिन वह अपने जीवन की व्यर्थता का अस्पष्ट अनुभव कर पाती थी। मैं यह बताना भूल गया हूँ कि सेवती को वेतन के रूप में एक पैसा भी नहीं मिलता था। वेतन की कोई कल्पना ही कभी उसके मनमें नहीं उठी थी। वह अपने को उस परिवार का ही एक अंग समझती थी। मुझे अभी तक इस बात का पता नहीं है कि वह पहले पहल कब उस परिवार में आयी और उसने अपने माँ-बाप को कभी देखा भी या नहीं। मुझे लगता है कि स्वयं उसे भी याद न होगा कि वह कब उस विशाल भवन में आयी थी और कौन उसे वहाँ रख गया। जो भी हो, उसकी मालकिन ने भी उसे परिवार का अभिन्न अंग उसी रूप में कभी माना होगा, जिस रूप में वह उन्हें मानती रही, ऐसा मैं नहीं समझता। कभी एक क्षण के लिए भी उन्होंने उसे सुख-दुःख और हर्ष-क्लेश की अनुभूति से युक्त जीवित प्राणी माना होगा, ऐसा नहीं लगता। उसे वह एक निपट दासी के रूप में ही देखा करती थीं, जिसका कर्तव्य (उनकी दृष्टि में) न्यायतः बिना किसी शिकायत के मालिक का काम निरन्तर करते रहने के सिवा दूसरा कोई हो ही नहीं सकता था! न वह उसे मासिक वेतन के रूप में एक अधेले की अधिकारी मानती थीं, न दोनों जून पेट-भर अन्न-पानी की और न कपड़े-लत्ते की ही। और जिस उजड़ते हुए सामंती-युग के वातावरण में वह पली थी, उसमें इस दृष्टि से सोचना स्वाभाविक ही था।

बच्ची दिन-पर-दिन, मास-पर-मास और वर्ष-प्रति-वर्ष बड़ी होती चली गयी, और उम्र की बढ़ती के साथ ही साथ सेवती के प्रति लड़की के भाव और व्यवहार में भी अंतर आता गया। पर सेवती की दृष्टि में वह बराबर वही दो साल की बच्ची बनी रही, जिसकी किलकारियों से उसके प्राणों के कौन तार न जाने किस अतल गह्वर में बज उठते थे। मालकिन की लड़की जब बड़ी हुई तब वह अपनी माँ की ही तरह

सेवती पर मालिकामा रोब गाँठने लगी, और जरा-जरा सी बात पर अपनी माँ से उसके 'अपराधों' की शिकायत करने लगी। पर सेवती के मन में कभी उसके उस व्यवहार की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। बल्कि, यदि सच पूछा जाय तो, इस कल्पना से उसके मन में एक पुलक का ही अनुभव हुआ कि उसकी नन्ही-सी बच्ची अब इतनी सयानी हो गयी है कि उसे 'भले-बुरे' का बोध हो गया है और वह अपराध करने पर डाँट-डपट सकने की क्षमता रखती है।

तब तक मैं भी कुछ सयाना हो चला था। यद्यपि मैं बचपन से ही सेवती को जानता था, पर बचपन में उसके सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता वहीं तक सीमित थी, जहाँ तक एक बच्चे को एक विचित्र आकृति-प्रकृति के व्यक्ति के सम्बन्ध में हो सकती है। जब मैं कुछ बड़ा हुआ, तब उसके सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता का पर्यवेक्षण बदला। वह हमारे यहाँ अक्सर अपने (अर्थात् अपनी मालकिन के) किसी न किसी काम से आती रहती थी—कभी चक्की पीसने और कभी धान कूटने (उसकी मालकिन के यहाँ न चक्की थी न ओखली), और माँ के आगे अपनी 'अर्द्ध स्फुट' भाषा में अपने घर की दैनिक-चर्या का सारा हाल राई-रत्ती के हिसाब से बता जाया करती थी। चूंकि माँ उसकी बातों को अत्यन्त धैर्य और सहानुभूति के साथ सुना करती थी, इसलिये वह उन्हें सब हाल सुनाने में एक अपूर्व तृप्ति का अनुभव करती थी, ऐसा मेरा अनुमान है। पहले मैं उसकी बातों से उकता जाया करता था, और चाहता था कि वह कब हटे और कब मैं माँ के आगे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की चर्चा चलाऊँ। पर बाद में मैं उसकी बातों में विशेष दिलचस्पी लेने लगा।

वह अधिकतर मालकिन की लड़की का उल्लेख किया करती थी। उसकी बातों से पता चल जाता था कि वह उसे कितना अधिक चाहती है। वह यह रोना रोती कि लड़की कभी भर-पेट खाना नहीं

खाती, और न दूध ही पीती है, इसलिये दिन पर दिन दुर्बल होती चली जाती है। कभी वह यह कहती कि लड़की का स्वभाव बड़ा बिचित्र है और उसे दूध रुचता ही नहीं है, और कभी (जिस दिन वह विशेष रूप से अपनी मालकिन से असंतुष्ट रहती थी) उसे यह कहते सुनायी देता कि "वह (मालकिन) बिटिया को न भर-पेट खाना देती है, न दूध और स्वयं उसके (लड़की के) हिस्से का भी खाना डटकर खा लेती है, दूध भी गटक जाती है। बिटिया जब एक दिन बीमार पड़ेगी, उसे क्षय रोग होगा, मरेगी, तब उसकी अम्माँ जानेगी। बिटिया के बाबू भी इसी रोग से मरे थे, अब उसकी अम्माँ भी उसे इसी रोग का शिकार बनाने जा रही है, ऐसी चुड़ैल है वह! मैं तो आज छुटकी से खूब झगड़ आयी, मालकिन!" (वह मेरी माँ को मालकिन कहकर पुकारा करती थी और अपनी मालकिन को 'छुटकी' कहकर) उसकी मालकिन अपने मृत पति की दूसरी पत्नी थी, पहली पत्नी मर चुकी थी।

मैंने देखा कि अपनी मालकिन (छुटकी) से वह केवल इसलिये नाराज रहती थी कि वह बिटिया को अच्छी तरह खिलाती-पिलाती नहीं। पर स्वयं अपने सम्बन्ध में वह कभी एक शब्द भी न कहती और न कभी इस बात की कोई शिकायत मैंने उसके मुँह से सुनी कि उसकी मालकिन उसे प्रायः चौबीसों घंटों की अवैतनिक नौकरी के बदले मड़वे की रोटी के एक या दो टिक्कड़ों के अतिरिक्त और कभी कुछ भी खाने को नहीं देती और न वर्षों से बदलने को कोई दूसरा कपड़ा ही उसे दिया गया है। दूसरे लोग उसकी भीतरी स्थिति की कारुणिकता से भली-भाँति परिचित थे, पर वह कभी भूल कर भी अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख के सम्बन्ध में किसी के आगे मुँह न खोलती।

बिटिया के पीछे वह एक प्रकार से पागल सी हो गयी थी, उसके गुणों का बखान करते करते वह थकती न थी। केवल रोना यही था कि

वह "अपनी चुड़ैल माँ की लापरवाही के कारण दिन पर दिन कमजोर होती चली जा रही है!" मुझे मालूम था कि उसकी वह 'बिटिया' उस पर सब समय रोब गालिब किया करती थी और कभी उसने अपनी माँ से सेवती की ओर से वकालत करते हुए यह नहीं कहा कि दिन भर की कठिन घिसाई के बाद मडुवे की रोटी के जो दो-एक टिक्कड़ उसके सिर पर पटक दिये जाते हैं, वे अपर्याप्त हैं। लड़की अब सयानी हो चली थी और उसकी माँ प्रत्येक विषय में उसकी राय के अनुसार चला करती थी। यदि लड़की चाहती तो सेवती के सम्बन्ध में उसकी माँ उसकी बात को कभी न टालती। पर लड़की ने कभी उसे अपने पूर्वजों की मोल ली हुई दासी के अतिरिक्त और कुछ न माना।

सेवती जानती थी कि 'बिटिया' उसके काम से सब समय असन्तुष्ट रहती है। इसलिये वह उससे बुरी तरह डरती थी। अपनी मालकिन को वह तृणवत् भी नहीं समझती थी, पर मालकिन की लड़की के आगे वह इस तरह थर-थर काँपती थी जैसे सामने कोई बाघिनी खड़ी हो। पर 'डरने' की यह अनुभूति उसे कितनी प्रिय थी!

बिटिया बड़ी होती चली गयी। अन्त में एक दिन उसका विवाह हो गया! विवाह के कई दिन पहले से सेवती का काम दसगुना बढ़ गया था। उसे एक क्षण के लिये भी दम लेने की फुर्सत नहीं थी। वह अति-मानुषी शक्ति से सब काम आश्चर्यजनक फुर्ती से कर रही थी। इसके पहले मैंने उसके शरीर में फुर्ती का नितान्त अभाव पाया था। काम सभी कुछ करने पर भी फुर्ती से वह एक भी काम नहीं कर पाती थी—अपने अंगों को त्वरित गति से हिला-डुला सकने में वह असमर्थ थी। पर विवाह के पूर्व उसमें न जाने कहा से अलौकिक स्फूर्ति आ गयी थी। उसके चेहरे की ऊपर वाली परत में उल्लास की एक तीव्र चमक अवश्य वर्तमान थी, पर उस परत के नीचे से एक प्रगाढ़

अन्धकार की काली छाया बीच-बीच में जैसे हवा के झोंके से परदे के हट जाने से झलक उठती ।

जब विवाह समाप्त होने पर लड़की ससुराल चली गयी तब सेवती माँ के पास जाकर फूट-फूट कर, बेबस रो पड़ी । माँ ने कितना समझाया, पर वह किसी तरह सुनती ही न थी। वह दारुण मर्म-पीड़ा से बिलखती हुई कह रही थी—"मालकिन, अब मैं जीकर क्या करूं ? किसके लिये जीऊँ ? बिटिया गयी, मुझे अपने साथ नहीं ले गयी। परदेश में मैं उसकी सेवा-टहल करती, उसे सुख से रखती । पर अब तो सारा मकान जैसे मुझे काटे खाता है !"

मुझे इसके पहले पता नहीं था कि 'गूंगी' सेवती भी अपने मन की बात को इस तरह स्पष्टतया व्यक्त कर सकने की क्षमता रखती है। सम्भवतः प्रबल पीड़ा की मार्मिकता जन्तु जीवों के भीतर भी बद्ध बुद्धिकोषों को खोल सी देती है !

बिटिया के विवाह के बाद कुछ महीनों तक तो सेवती इस तरह अपने को छिपाये रही, जिस प्रकार शीत लोक के कुछ जीव शीतकाल में आत्म-रक्षा के लिये बर्फ के नीचे पृथ्वी के गर्भ में अज्ञात समाधिस्थ जीवन बिताते हैं ।

उसके बाद एक दिन अचानक उसका आविर्भाव हुआ और एक बिलकुल नये ही रूप में। 'बिटिया' के प्रति उसका प्रेम एक दूसरी ही भावना में बदला हुआ लगा । उस दिन वह अपनी चिर-परिचित विचित्र मुसकान से मुस्कराती हुई, दोनों आँखों के छोरों से लेकर ठुड्डी तक असंख्य क्यारी-नुमा रेखाएँ खींचती हुई बाहर को उभरे हुए दो लाल जबड़ों के बीच में दो पतली श्वेत-पंक्तियों को झलकाती हुई कागज का एक टुकड़ा हाथ में लेकर मेरे पास आयी। इसके पहले मुझसे उसने कभी कोई बात नहीं की थी, शायद इसके योग्य ही मुझे उसने नहीं समझा था । कागज के टुकड़े को मेरी ओर बढ़ाते हुए उसने अपरि-

स्फुट—अथवा अर्द्धस्फुट—शब्दों में मुझसे कहा—"तनिक यह चिट्ठी पढ़कर सुना दो, लल्ला !"

मैंने चिट्ठी उसके हाथ से ले ली, और पढ़ने लगा। पर आधा वाक्य भी न पढ़ा होगा कि मैं सहसा रुक गया, और मन-ही-मन पढ़ने लगा। जब सारी चिट्ठी पढ़-चुका, तब चिट्ठी भेजने वाले पर प्रचंड क्रोध से मेरा हृदय हिल गया। चिट्ठी एक आवारा नवयुवक की लिखी मालूम होती थी (बाद में पता लगा कि वह शिक्षित नवयुवक मेरा परिचित है।) युवक ने लिखा था—

"मैं शीघ्र ही आऊँगा, तब हम दोनों का विवाह होगा। प्यारी सेवती, तब हम दोनों के दिन बड़े सुख से कटेंगे। जब से हम दोनों की सगाई हुई है, तब से मेरा मन यहाँ काम पर तनिक भी नहीं लग रहा है। मैं या तो जल्दी ही यहाँ नौकरी छोड़कर वहीं कोई नौकरी ढूँढ़ लूँगा, या फिर तुम्हें भी यहीं ले आऊँगा—तुम्हारा ह०।"

मैं सोचने लगा कि वह चिट्ठी सेवती को पढ़कर सुनाना क्या उचित होगा ? क्या उसे पढ़कर सुनाना उस भोली आत्मा के साथ किये गये उस घोर मार्मिक परिहास में शरीक होने के बराबर नहीं होगा ? मैंने एक बार गौर से सेवती की ओर देखा। उसकी भोली मुसकान-भरी विचित्र रस-विह्वल दृष्टि से मैं समझ न पाया कि उसके मन के भीतर ठीक क्या बात छिपी है।

मुझे चुप रहते देखकर उसने प्रश्न किया—"तुमने बताया नहीं लल्ला, कि चिट्ठी में क्या लिखा है !"

मैंने पूछा—"तुम जानती हो यह किसकी चिट्ठी है ?"

उसने वही नाम बताया जो पत्र में लिखा था।

मैंने फिर पूछा—"तुम इन्हें कब से और कहाँ से जानती हो ?"

उसके मुख पर फिर एक बार अपूर्व हर्ष-विह्वल भाव असंख्य रेखाओं की प्रणालियों से होकर जैसे गद्गद्, मूक संगीत के रूप में

प्रवाहित हो चला। बच्चों की-सी अर्द्धस्फुट काकली के स्वर में वह प्रायः किलकती हुई-सी बोली—"वह बिटिया की ससुराल के हैं। एक बार किसी काम से यहाँ आये थे। उन्होंने मुझे देखा। दूसरे ही दिन मुझ से वह बोले 'मैं तुम से विवाह करूँगा, सेवती। मेरे पिता जी ने कई लड़कियों से मेरे विवाह की बातचीत चलायी, पर मुझे आज तक कोई पसंद न आयी। पर कल जब मैंने पहली बार तुम्हें देखा तभी से मेरे मन में बेकली समा गयी। तुम अगर राजी हो जाओ तो मैं तुमसे विवाह करूँगा। बोलो, राजी हो?' यह कहकर उन्होंने मेरे गले में अपना हाथ..." कहते ही सेवती ने पहले से भी अधिक विचित्र मुद्रा से मुसकराते हुए झेंपकर मुँह फेर लिया। जिस समय उसने मुझ से यह बात कही उस समय वहीं पर मेरे पड़ोस की और भी दो-एक स्त्रियाँ बैठी हुई थीं। वे सब बरबस खिलखिलाकर हँस पड़ीं। पर मुझे उसकी बात से न तो तनिक भी हँसी आयी, न मैंने किसी प्रकार के आमोद का ही अनुभव किया; बल्कि एक विदारुण आतंक की भावना से मेरा हृदय दहल उठा। मैं सोचने लगा कि क्या यह वास्तव में सम्भव हो सकता है? उस गूंगी की आयु उस समय ५० से ऊपर हो चुकी होगी। इतने वर्षों तक उसने अपने भीतर वैवाहिक प्रवृत्ति का अनुभव किसी भी रूप में कभी किया होगा, इसका कोई आभास न मुझे, न उससे परिचित दूसरे व्यक्तियों को कभी मिला। इसलिये जिस व्यक्ति ने उसके पचासवें वर्ष बाद उसके मन के अतल में पाषाणवत् स्तब्ध और सुप्त प्रवृत्ति को केवल एक निष्ठुर आमोद की भावना से जगा दिया, उसकी उस प्राणघाती परिहास-प्रियता के विरुद्ध मेरे भीतर उत्कट विद्रोह की भावना जग उठी।

इसके कुछ ही दिन बाद मैंने वनिष्ठ सूत्रों से पता लगाया कि उक्त युवक की सेवती से केवल 'सगाई' ही नहीं हुई है, बल्कि उसके साथ

2138

विवाह का भी पूरा अभिनय हो चुका है, अब केवल उस 'अभिनय' को 'वास्तविकता' में परिणत करना शेष है। मैं उस युवक को जानता था और उसके 'परिहास-प्रिय' स्वभाव से भी भली-भाँति परिचित था। पर उसकी वह 'परिहास-प्रियता' इस हद तक अमानुषिक हो सकती है, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। तुर्रा यह था कि वह समय-समय पर सेवती के नाम उक्त प्रकार के पत्र भेजकर अपने निर्मम परिहास को अधिकाधिक लम्बा—बल्कि स्थायी—रूप देता चला जा रहा था! तबसे सेवती बराबर उस युवक के पत्र लेकर मुझसे पढ़वाने आया करती थी। पत्र मेरी ओर बढ़ाते समय उसके जीर्ण-शीर्ण और निर्जीव मुख पर न जाने कहाँ से उद्दीप्त जीवन की एक चमक संध्या की निर्वाणोन्मुख रक्ताभा की तरह छा जाती थी। साथ ही उसकी चिर-विरस, निष्प्राण और निर्विकार आँखों में न जाने कहाँ से एक अदम्य आशा तथा उत्सुकता भरी चमक बिजलियों का-सा खेल खेलने लगती। प्रत्येक पत्र में उसी तरह के 'आश्वासन' भरे रहते।

मामले को गहरा रंग पकड़ते देख कर मैंने निश्चय किया कि उसका स्वप्न जल्दी से जल्दी भंग कर देना चाहिए, ताकि बाद में अकस्मात् उसका दिल न टूट जाये। पर उसके मुख पर प्रति बार एक अपूर्व—बल्कि अलौकिक—उल्लास, आशा तथा उत्सुकता के भावों की झलक देख कर मेरा साहस जाता रहता। वह अपने 'विवाह' के बाद की दुनिया के सम्बन्ध में अपने गूंगे मन में उठनेवाली जिन विचित्र-विचित्र कल्पनाओं का आभास टूटे-फूटे शब्दों में व्यक्त करती जाती थी, उससे मेरे भीतर एक तीखी कटीली अनुभूति रह-रह कर टीस मार उठती। मैं रह जाता।

अंत में एक दिन मैंने पूरी शक्ति से साहस बटोर कर उसे वास्तविकता से परिचित करा ही दिया, और उसकी क्या प्रतिक्रिया उसके

भीतर होती है, यह जानने के लिए मैं काँपते हुए हृदय से, उत्सुकतापूर्वक, और से उसके मुख की ओर देखता रहा। मैं बहुत चिंतित था। पर उसके मुख के भाव से मैं आश्वस्त हो उठा। मैंने आश्चर्य से देखा कि मेरी बात का कोई प्रभाव उस पर न पड़ा। परम विश्वासपूर्वक वह तनिक आक्रोश की मुद्रा में बोली—"तुम्हारे कहने से क्या होगा! मैं जानती हूँ कि वह मेरे साथ ठठोली नहीं करते और मेरे साथ विवाह करने का उनका सच्चा इरादा है। तुम मेरी चिट्ठियाँ पढ़ दिया करो, बस? और कोई बात मैं तुमसे जानना नहीं चाहती!"

तब से मैंने फिर कभी उसके सुमधुर स्वप्न-लोक में अनाहूत प्रवेश करके उसमें बाधा डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

दिन बीतते चले गए। एक-दो-पूरे तीन वर्ष बीत गए। मुझे मालूम हुआ कि हँसोड़ युवक ने अब सेवती के पास पत्र भेजना बन्द कर दिया था। अब स्पष्ट ही उस परिहास में उसे कोई नया रस नहीं मिल रहा था। पर इस बात से, तथा समय की द्रुत-गति से भी, सेवती के स्वप्न में कोई अन्तर नहीं आया। अपने विवाह के सम्बन्ध में एक अद्भुत अडिग विश्वास, एक विचित्र अनाहत आशा उसके भीतर पत्थर की रेखा की तरह जम चुकी थी। वह समय-असमय मुझसे तथा दूसरे परिचित स्त्री-पुरुषों से प्रायः एक ही निर्विचित्र ढंग से उस 'शुभ दिन'की चर्चा चलाया करती थी, जब अमुक युवक से उसका विवाह बड़ी धूमधाम से होगा। इस बात से तनिक भी निराशा उस ५३ वर्षीया गूंगी को नहीं हुई कि जिस युवक ने उससे विवाह के सम्बन्ध में आश्वासन दिया था, उसने अब परिहास में भी पत्र भेजना बन्द कर दिया है। वह अक्सर उस युवक के घनिष्ठ रूप से परिचित परिवारों में जाती थी और वहाँ के लोगों से उसका कुशल-समाचार ले आती थी। चूँकि उन सब को इस चर्चा में एक विचित्र आमोद का अनुभव होता था, इसलिए वे सब उसके उत्साह को तनिक भी ठंडा न होने देने के उद्देश्य से झूठ-मूठ की बातें

बना कर उसे यह विश्वास दिला देते थे कि वह (युवक) अवश्य ही, उससे विवाह करेगा—जल्दी ही ।

इस 'जल्दी' को दो वर्ष और बीत गए । मैं उस बार जब घर गया तब मैंने गूंगी का पता लगाया । मालूम हुआ कि उसका शरीर इस बीच अत्यन्त शिथिल हो गया है और वह अधिकतर घर के भीतर ही पड़ी रहती है—घर-घर जाकर चक्कर नहीं लगाती । मैं उससे उसके घर पर ही मिला । मैंने देखा, उसके शीर्ण मुख पर झुर्रियों की संख्या कई गुना अधिक बढ़ गयी है । सारे मुख पर मकड़े के जाले की तरह असंख्य रेखाओं के ताने-बाने दिखायी देते थे । पर यह सब होने पर भी उसकी आकृति में प्रकृति में, रूप में रंग में, पोशाक में पहनावे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था । एक अँधेरे कमरे में वह कच्चे फर्श पर एक गंदे बिस्तर पर लेटी हुई थी । मुझे देखते ही उठ बैठी । एक म्लान मुसकान से उसके मुख की सभी रेखाएँ और अधिक परिस्फुट हो उठीं । बाहर को उभरे हुए लाल जबड़ों को खोल कर वह लाज का एक हलका-सा आवरण देने का प्रयत्न करती हुई कुछ रुक कर बोली—"तुम अच्छे तो हो लल्ला ? अच्छा हुआ, तुम आगए । तुमसे एक काम था ।"

"क्या ?"

वह मुस्कराती भी जाती थी, साथ ही नव-वधू की सी लज्जा का एक झीना परदा भी मुख पर ओढ़े हुए थी । बोली—"एक चिट्ठी तुम्हीं मेरी ओर से लिख दो न ! अब तो उन्हें आ जाना चाहिये ! "

मेरे भीतर एक नीरव क्रंदन की लहर हहर उठी, जिसे बलपूर्वक दबाने का प्रयत्न करते हुये मैंने कहा—"मैं आज ही लिखूँगा । तुम धैर्य रखो ।" शायद वह उस दिन की बात भूल गयी थी जब मैंने उसे 'सगाई' के प्रहसन की वास्तविकता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था । मेरा उत्तर सुन कर उसके प्राणों का बुझता हुआ दीपक एक

विचित्र उल्लास से एक बार चटचटा उठा। क्षण-भर के उस तीव्र-ज्वलित प्रकाश में उसकी संपूर्ण आत्मा का वह रूप मेरे आगे सुस्पष्ट हो उठा, जो इतने दिनों के निकट संपर्क के बाद भी बिलकुल छिपा ही रह गया था। उसने मेरे सिर पर अपना स्नेह-सुकोमल हाथ रखा—मुझे आशीर्वाद देने के इरादे से। सहसा उसकी आँख से एक बूँद आँसू बरबस नीचे टपक पड़ा। निर्वाणोन्मुख दीपक को उसकाने के बाद उसके 'गुल' को साफ करने पर कभी-कभी एक ज्वलित प्रकाश-बिंदु नीचे टपक पड़ता है, उसका वह आँसू भी मुझे ठीक वैसा ही लगा। उसे फिर एक बार आश्वासन दे कर मैं वहाँ से उठ कर चला गया।

कुछ महीनों बाद मैंने सुना (मैं तब कलकत्ते में था) कि सेवती चल बसी है। संवाद सुनते ही उस चिर-परिणीता को मैंने मन-ही-मन प्रणाम किया।

——

बदला

उसे कोई 'जैन' कहता था कोई जैक। पर वह न तो जैन था (वास्तव में वह कट्टर हिंदू था) और न वह 'जैक' ही था। उसका असली नाम था जनार्दन। जैक उसका नाम शायद इसलिये पड़ गया कि वह टामियों का बहुत बड़ा प्रशंसक था। उसके जीवन की सब से बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि वह एक हवलदार बनकर किसी टामी अफसर की सेवा करता रहे। वह अक्सर टामियों के लहजे में ऊटपटांग अँगरेजी वाक्य बोलने का अभ्यास करता रहता था, यद्यपि वह अँगरेजी का एक शब्द भी पढ़ना नहीं जानता था। उसका जन्म एक कुलीन घराने में हुआ था और उसकी बिरादरी के अधिकांश व्यक्ति शिक्षित थे और उनमें से कई अच्छे पदों पर नौकर थे। पर उसने बहुत छोटी कक्षा से ही पढ़ना छोड़ दिया था। छुटपन में ही वह गाँव से शहर में आ बसा था, पर अपने पढ़ने की सुविधा वह तब भी न जुटा सका। उसके न पढ़ने में आर्थिक कारण भी शायद किसी हद तक रहा हो, पर सबसे बड़ा कारण था उसका विचित्र खामखयालियों से भरा सनकी स्वभाव।

उसके स्वभाव में अस्थिरता इस हद तक वर्तमान थी कि एक क्षण वह पागल बनने का स्वांग रचकर, जानबूझ कर कही गयी बेमेल और अर्थहीन बातों से सबको हँसाता था और दूसरे ही क्षण अकारण ही किसी पर क्रुद्ध होकर ऐसी विकट गंभीर मुद्रा बना लेता था कि

देखकर भय मालूम होने लगता था। केवल उसकी प्रकृति ही वैचित्र्य-पूर्ण नहीं थी, बल्कि उसकी आकृति भी कुछ कम असाधारण नहीं थी। बहुत छोटी उम्र से ही उसके कपाल में और गालों में झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। उसके बत्तीस दाँतों में से कोई दो दाँत समान नहीं थे। बीच के दो दाँत बहुत लंबे और हाथी के दाँतों की तरह बाहर को निकले हुए थे। अंतर केवल यह था कि हाथी के दाँत बहुत स्वच्छ, शुभ्र और सामंजस्यपूर्ण होते हैं, पर जैन के उन दोनों बाहर को निकले हुए दाँतों में बराबर नीले और पीले रंग की मिश्रित काई जमी रहती थी और उनमें समानता नहीं थी। छुटपन से ही वह दाँत साफ करने का विरोधी था। इसलिये जब वह किसी पर प्रसन्न होकर हँसता भी था तो भय मालूम होता था। कम से कम मैं छुटपन में उससे बहुत डरता था। उसे देखते ही मेरा शिशु-मन आशंकित हो उठता था। लगता था जैसे वह किसी भी समय किसी बच्चे की हत्या अत्यंत निर्मम रूप से कर सकता है। उसके मुख की अभिव्यक्ति ही ऐसी क्रूर और निष्करुण थी! पर भय मालूम होने पर भी मुझे उसका व्यक्तित्व ऐसा कुतूहलोत्पादक लगता था कि दूर से उसकी प्रत्येक गतिविधि में मैं बड़ी दिलचस्पी लिया करता था।

एक दिन मुझे पता चला कि वह मुहल्ले के एक प्रसिद्ध धनिक के यहाँ नौकरी करने लगा है। पहले मुझे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि जिस दिन मैंने यह समाचार सुना उसके ठीक एक दिन पूर्व रात के समय में उसे उन्हीं धनिक महोदय को गला फाड़-फाड़ कर अश्राव्य गालियाँ देते सुन चुका था। वह रात के सन्नाटे में इस कदर चिल्लाकर गालियाँ दे रहा था कि यह नामुमकिन था कि धनिक महोदय ने उसकी गालियाँ न सुनी हों। जहाँ तक मेरा विश्वास है, वह जानबूझ कर उन्हें सुनाने के उद्देश्य से ही चिल्ला रहा था। वह हमारे घर के बगल वाले मकान में रहता था, इसलिये शायद

ही उसकी कोई गतिविधि मुझसे छिपी हो। मैं जानता था कि गालियाँ देते समय वह पहले अपने कमरे को भीतर से अच्छी तरह बंद करके अपने को सुरक्षित अवस्था में रख कर, बरामदे से इतमीनान से गालियाँ दे रहा है। रात का समय भी उसने स्पष्ट ही विशेष उद्देश्य से चुना था। एक तो उस समय सारे मुहल्ले वालों का ध्यान स्वतः उन गालियों की ओर एकांत रूप से आकृष्ट हो जाता था (क्योंकि चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था और लोग सोने की तैयारी कर रहे थे), दूसरे उसकी अपनी सुरक्षा भी उस समय अधिक हो सकने की संभावना थी, क्योंकि सोने की तैयारी करता हुआ कोई आदमी इतनी फुर्ती नहीं कर पाता कि उठ कर गाली देने वाले पर हमला करे—विशेषकर उस व्यक्ति पर जो अपने कमरे के भीतर बंद हो। वह यही चाहता था कि वह भी सुरक्षित रहे और साथ ही उसकी गालियाँ भी सारे मुहल्ले में प्रचारित हो जायँ; और उद्दिष्ट व्यक्ति भी इतमीनान से उन गालियों को सुन ले। वह ऐसे खुली जबान से गालियाँ देता जाता था कि लगता था जैसे एक एक गाली के उच्चारण द्वारा उसकी जीभ को (और आत्मा को भी) परिपूर्ण रस प्राप्त हो रहा हो।

इसलिये दूसरे ही दिन जब मैंने उसकी नौकरी की बात सुनी तो मुझे विश्वास न होना स्वाभाविक था। पर बाद में पूछताछ करने पर पता चला कि बात सच थी। किसी ने व्यंग में यहाँ तक कहा कि उसे नौकरी मिली ही इस कारण से है कि उसने कल दिल खोलकर गालियाँ दी हैं! वह महाशय एक दूसरे सज्जन से बातें कर रहे थे और कह रहे थे—"जैक को तुम अधपगला न समझो। वह पक्का धूर्त है। वह उन साहब की मनोवृत्ति से परिचित है, जिसने उन्हें अपने यहाँ नौकर रखा है। वह जानता रहा है कि उन पर केवल गालियों का ही प्रभाव पड़ सकता है!"

उक्त धनिक महाशय के यहाँ नौकरी करते हुए जनार्दन को प्रायः

डेढ़ वर्ष हो चुका था। इस बीच धनिक महोदय की पत्नी बहुत बीमार पड़ गयी थीं। नित्य सुबह-शाम शहर के सुप्रसिद्ध डाक्टर उनके यहाँ आते रहते थे। सिविल सर्जन एक अँगरेज था। जनार्दन जब टामियों तक का बड़ा भक्त था तब किसी अच्छे पदवाले अँगरेज के संबंध में तो कहना ही क्या है। जो भी टामी या सिविलियन अँगरेज उसे रास्ते में दिखायी देता था उसे वह नियमित रूप से 'मिलिटरी सैल्यूट' किया करता था और अपनी इस क्रिया से स्वयं अत्यंत पुलकित होता था और अपने को बहुत गौरवान्वित समझा करता था। एक दिन वह बाजार से सुबह के लिये साग-सब्जी खरीदने गया हुआ था। उन दिनों वह रसोई बनाया करता था। एक हाथ में वह साग भाजी का झोला लिये हुए था और दूसरे में एक बड़ी सी पुड़िया। दाहिने हाथ से बगल में काठ के बने हुए एक बड़े से पहाड़ी कटोरे को दबाये हुए था जिसमें दही था। ज्योंही वह पत्थर की सीढ़ियों से होकर ऊपर दरवाजे के पास पहुँचा त्योंही सहसा सिविल सर्जन बीमार को देखकर बाहर लौटा। जनार्दन ने अभ्यासवश, तत्काल, बिना कुछ सोचे-विचारे, पुड़िया को नीचे फेंक कर दाहिने हाथ को पूरा घुमाकर 'मिलिटरी सैल्यूट' किया। बगल से दही का कटोरा सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ एकदम नीचे जा गिरा, पर 'जैक' अपनी सलामी की मुद्रा में न तनिक झुका न दही के कटोरे के गिरने की चिंता से उसने पीछे की ओर लौटकर देखा। जब तक साहब न चला गया तब तक वैसे ही खड़ा रहा। मैं नीचे अपने समवयसी बालकों के सा खेल रहा था। कटोरे के लुढ़कने की आवाज सुनकर मैंने ऊपर को दृष्टि की। जो अपूर्व दृश्य मैंने देखा उसे मैं जीवन भर नहीं भूल सकता। जनार्दन मूर्तिमान सलाम बन कर खड़ा था। साहब अट्टहास कर उठे। साहब के चले जाने पर जनार्दन ने स्थिति को ठीक तरह से समझने का प्रयत्न किया। दही नष्ट हो जाने का दुःख उसे अवश्य हुआ और उसके लिये उसने

मालिक से क्षमा भी चाही, पर साहब के अट्टहास करने से जो प्रसन्नता उसे हुई, गर्व की जिस भावना से उसकी छाती फूल उठी, उसकी तुलना में वह अफसोस नगण्य था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं उससे बहुत डरता था, यद्यपि दूर से उसकी प्रत्येक गतिविधि पर गौर करता रहता था। मेरा भय अकारण नहीं था। दो-एक बार मैंने उसे उसके कुछ विचित्र खामखयालियों से भरे कृत्यों की याद दिलायी—इस शिशुजनोचित आशा से कि जनार्दन प्रसन्न हो उठेगा। पर उसने अग्निशर्मा का रूप धारण कर जो डाँट मुझे बतायी उससे मैं थरथरा उठा और तब से उसके सामीप्य से बहुत बचकर चलने लगा।

जब प्रथम महायुद्ध (१९१४ में) छिड़ा तब उसकी अवस्था प्रायः २० वर्ष की होगी। वह 'लेबर कोर' में भर्ती होकर लड़ाई में चला गया। पूरे चार साल तक वह हम लोगों के बीच में से अदृश्य रहा। मेरे जीवन का विकास इन चार वर्षों में अपने निजी ढंग से होता चला जा रहा था, और मैं बहुत-सी पिछली बातों की तरह जनार्दन की बात भी एकदम भूल गया था।

चार साल बाद एक दिन क्या देखता हूँ कि जनार्दन खाकी जीन की मिलिटरी वर्दी में अपने चिर-परिचित दाँतों को और अधिक आगे बढ़ाये और खीसें निपोड़े मुहल्ले की चहारदीवारी के भीतर प्रवेश कर रहा है। "जैक आ गया! जैक आ गया!!" चारों ओर से युवकों, वृद्धों, औरतों और बच्चों के मुँह से यह आवाज सुनायी देने लगी। स्वभावतः मेरे कानों में भी वह आवाज गयी। मैंने गौर से देखा और अपने पुराने परिचित मित्र को पहचान कर जो हार्दिक प्रसन्नता मुझे हुई उसका वर्णन कठिन है। आज भी जब इतने वर्षों बाद अपनी उस अकपट प्रसन्नता का विश्लेषण करने बैठता हूँ तो उसका मूल कारण खोजने में चक्कर में पड़ जाता हूँ। मैं स्पष्ट देख रहा था कि 'जैक' के

वापस आने से केवल मुझे ही प्रसन्नता नहीं हो रही थी, बल्कि मुहल्ले के सभी व्यक्तियों में उसे चार वर्ष बाद देखकर एक अकारण हर्ष की हिलोर दौड़ पड़ी थी—हालाँकि मुहल्ले में एक भी ऐसा व्यक्ति शायद ही हो जिस पर जैक ने गालियों की बौछारें न की हों।

कुछ दिनों तक तो मैं बड़ी ही श्रद्धा और संभ्रम की दृष्टि से उसे देखता रहा और पहले ही की तरह दूर ही से उसकी प्रत्येक गतिविधि पर गौर करता रहा। मैं देख रहा था कि चार वर्ष की लड़ाई के बाद भी उसकी आकृति में तनिक भी अन्तर नहीं आया था। कपाल में और गालों में वही झुर्रियाँ, बाहर की ओर निकले हुए टेढ़े-मेढ़े दाँतों में वही नीले और पीले रंग की मिश्रित पुताई, ओंठों के इर्द-गिर्द वही क्रूर और प्रतिहिंसात्मक हँसी। उसकी प्रकृति में भी विशेष अंतर नहीं आया था। वही खामखयाली, वही सनक! बातें करते-करते वह बीच-बीच में नाच उठता और फिर तत्काल ही किसी को भयंकर आक्रोश के साथ गाली दे बैठता। पर उसके इन सब क्रियाकलापों के बावजूद मेरे भीतर से भय का वह भूत चला गया था जो उसके लड़ाई में जाने के पूर्व, समय असमय, मेरा गला दबाया करता था। इसका एक कारण शायद यह था कि मैं अब पहले का-सा बच्चा नहीं रह गया था और अंतर्बुद्धि में जान गया था कि जनार्दन के बाहरी खूंखार रूप के भीतर एक बहुत ही कोमल और साथ ही कायर रूप छिपा है। उसके भीतर के उस कायर स्थल को छूने की कुंजी जैसे मुझे मिल गयी थी। जब मुझे निश्चय हो गया कि अब मेरे लिये उससे डरने का कोई कारण नहीं है, तब मैं मुक्त भाव से उससे मिलने लगा और लड़ाई के संबंध में उससे नाना प्रकार के कुतूहलपूर्ण प्रश्न करने लगा। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह भी अब मुझे एक बच्चा समझ कर उपेक्षा-भाव से बातें नहीं करता था, बल्कि मुझे काफी सयाना मानने लगा है—हालाँकि तब मेरी अवस्था १६ वर्ष से अधिक न होगी।

तब से वह मेरा सच्चा मित्र बन गया। जाड़े के दिनों में जब हम लोग कभी उसके यहाँ और कभी अपने यहाँ अंगीठी के पास बैठ कर आग तापते थे तब वह लड़ाई के सम्बन्ध में अपने अनुभवों का वर्णन बड़े ही दिलचस्प ढंग से करता था। एक दिन उसे मालूम हुआ कि मैं फ्रेंच सीख रहा हूँ और काफी सीख चुका हूँ। उस दिन मेरे यहाँ आते ही वह बोला—"पार्ले वू फ्रांसे ?" ("क्या तुम फ्रांसीसी भाषा में बातें कर सकते हो ?") और मेरा उत्तर पाने के पूर्व ही उसी साँस में बोल उठा—"कोमातेली वू ?"* उसके बाद और भी कई फ्रांसीसी वाक्य वह लगातार बोलता चला गया। मेरे लिए यह एक बिलकुल ही नया और विश्वासातीत अनुभव था। एक निपट अशिक्षित व्यक्ति मेरे आगे खड़ा होकर धड़ल्ले से फ्रेंच पर फ्रेंच बोलता चला जा रहा हो जब कि मैं इतने कष्टों से उसे सीखने का प्रयत्न करते हुए एक वाक्य भी ठीक से बोलने का साहस नहीं कर पाता था! उस समय मुझे वह एक अलौकिक चमत्कारी व्यक्ति सा लग रहा था। उसके आगे मैं अपने को एक बहुत ही छोटा, नगण्य बालक अनुभव कर रहा था। मैं कुछ क्षणों तक पुलकित दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा। पुलकातिरेक के कारण मेरी आँखें सजल हो आयी थीं।

जब कुछ स्थिर हुआ तो मैंने गद्गद भाव से प्रश्न किया—"तुम पैरिस भी गये थे, जैन भैया ?"

"आहा, पैरिस की न पूछो !" जैन भैया ने इस ढँग से कहा जैसे पैरिस की याद से उनके मुँह में पानी भर आया हो—"वह एक निराला ही शहर है। वह पृथ्वी का स्वर्ग है, स्वर्ग! इंद्रपुरी की कोई तुलना उसके आगे नहीं हो सकती ! आहा ! ...." यह कह कर जैन भैया

---

* "कोमा-तू-इल-ए-वू ?" का टामी रूप, इसका अर्थ है—"आप के मिजाज कैसे हैं ?"

कुछ देर तक आँखें बंद करके दाँतों को बाहर और दृष्टि को अंतर्मुखी किये रहे—संभवतः इंद्रपुरी की स्वर्गीय कल्पना से वह कुछ क्षणों के लिये समाधि-मग्न से हो गये थे।

कुछ क्षणों बाद आँखें खुलने पर अर्द्ध दृष्टि से ऊपर की ओर देखते हुए फिर एक बार सजल जीभ से बोले—"आहा! ...कहाँ गये वे दिन! जिस दिन हम लोग पहले-पहल पेरिस के स्टेशन पर उतरे। उस दिन इन्द्र की सैकड़ों परियाँ हमारे स्वागत के लिए वहाँ कतार बांधे खड़ी थीं। मैं तुम्हें कैसे बताऊँ कि वे सब किस कदर एक से एक बढ़-कर सुंदरी थीं! ऐसा रूप हिंदुस्तान में देखने को मिल नहीं सकता। वह जैसे एक स्वप्न था। हमें देखते ही वे कहने लगीं—"बोको❀ इंडियन! बोको इंडियन!" और प्रसन्नता से अपने दोनों हाथों को ऊपर उठा कर नचाने लगीं।..." और उसके बाद उन्होंने विस्तार से यह बताया कि किस प्रकार बड़े-बड़े फ्रांसीसी अफसरों ने एक-एक करके भारतीय सैनिकों से हाथ मिलाया, और कैसी मीठी-मीठी बातें कहीं।

मैं भारत के एक पहाड़ी कोने में पड़ा हुआ प्राणी, संसार के श्रेष्ठ और सुंदरतम नगर की हवा खाये हुए, उस स्वर्गपुरी की परियों के अपूर्व (और—मेरी तत्कालीन कल्पना में—प्रायः अलौकिक) रंग-रसमय वातावरण में साँस लिए हुए एक 'चमत्कारी व्यक्ति को अपने एकदम निकट पाकर पुलक-विह्वल दृष्टि से' सम्मोहित भाव से, एक-टक देखता रह गया।

कुछ देर तक पेरिस के बाहरी तथा भीतरी सौंदर्य का वर्णन अपनी असंस्कृत कल्पना की दौड़ के अनुसार करता चला गया। मैं मोह-मुग्ध सा एकांत चित से, परिपूर्ण तन्मयता से सुनता रहा।

❀ फ्रेंच 'बोकू' (beaucoup = बहुत) का टामी रूप।

जब उसका भावावेग ठंढा पड़ गया तब एक लंबी साँस लेते हुए और मुख पर एक तीव्र विषाद, पश्चाताप और खीझ का भाव प्रकट करते हुए वह बोला—"पर फ्रांस ने मुझे कहीं का न रखा ! मैं बरबाद हो गया !"

अत्यंत चिंतित भाव से मैंने पूछा—"क्यों, क्या हुआ जैन भैया ? फ्रांस ने तुम्हें बरबाद कैसे किया ! क्या लड़ाई में कहीं कोई सख्त चोट आ गयी ?"

"जो कुछ हुआ उससे तो बेहतर था कि मुझे सख्त चोट आ गई होती और मेरे प्राण निकल गये होते। उफ ! कैसे जोखिम-भरे जाल में फँस गया ! मेरी जिन्दगी ही चौपट हो गयी ...।"

"पर हुआ क्या ?"

"बात यह हुई कि हम लोग जब मार्सेल के बंदरगाह में पहुँचे तो वहाँ हमें दो दिन के लिये शहर में घूमने और मौज करने की पूरी छुट्टी मिल गयी..." अपनी बात के आवेग में फिर से उत्साहित होते हुए जैन भैया बोले—"मार्सेल का बंदरगाह बड़ा विचित्र है, भैया ! सारा शहर वेश्याओं से भरा है। वेश्याओं को छोड़कर किसी भी गृहस्थी का कोई मकान मुझे वहाँ न दिखायी दिया। जहाँ कहीं भी हम लोग जायँ वहीं आलीशान मकानों की खिड़कियों से बनी-ठनी हुई मैदे से भी सफेद रंग के ऊपर खून से भी ज्यादा लाल रंग के धब्बों से गालों को रँगाये अलबेली छैल-छबीली छोकरियाँ हम लोगों को इशारा करके बुलाती थीं। मेरे मन का तो यह हाल था, भैया कि वहीं किसी छोकरी के दरवाजे के नीचे बैठ कर 'सुईसाइड' कर लूँ ! मैं हर-एक खिड़की की ओर ललकती हुई आँखों से देखता था पर कहीं भी भीतर जाने की हिम्मत इसलिये नहीं पड़ती थी कि कहीं कोई मार न बैठे। पर मेरा साथी बड़ा दिलेर था। एक मकान के तिमंजिले की खिड़की से एक सत्रह-अठारह वर्ष की लड़की एक हरे रंग का रेशमी रूमाल

हम दोनों की ओर हिलाकर इशारे से हमें बुला रही थी। वह कैसी अद्भुत सुंदरी लड़की थी, आहा! ...उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता! इच्छा होती थी कि या तो अपनी छाती पर एक छुरा भोंक दूं या उसके...मेरा साथी बोला—'चलो! बुला रही है!' और मेरा हाथ घसीटता हुआ वह जबर्दस्ती मुझे सीढ़ियों के ऊपर ले गया। मेरा कलेजा मारे डर के कांप रहा था। कहीं सचमुच मार न खा जाऊं! जब हम लोग ऊपर गये तो एक दरवाजे पर एक बुढ़िया से बातें हुई। उसने कहा कि हम लोग पहले पचास फ्रां उसके हाथ में रख दें, तब भीतर लड़की से मिल सकते हैं। सीढ़ियों के ऊपर पहुँच कर मेरी हिम्मत बढ़ गयी थी। मैं शराब पिये हुए था ही। (शराब हम लोगों को एक तरह से जबर्दस्ती पिलायी जाती थी!) और मेरी जेब में तीन महीने की पूरी तनख्वाह थी, जो इत्तफाक से पिछले ही दिन एक मुश्त मिली थी। मैंने पूरे पचास फ्रां बुढ़िया के हाथ में गिन दिये, और कहा कि अगर लड़की ठीक ढंग से मिली तो बाद में कुछ और दूँगा। बुढ़िया ने खुशी से हम लोगों को भीतर जाने दिया। भीतर की सजा-वट देखकर मैं अपने को सातवें स्वर्ग में समझने लगा—हालाँकि बाद में एक जानकार ने मुझे बताया कि वह सजावट फ्रांस में गरीब से गरीब घरों की सजावट से भी गयी गुजरी थी। पर मैंने चूंकि फ्रांस के किसी आदमी घर के भीतर कभी पाँव नहीं रखा था, इसलिये हिंदुस्तानी सजावट की तुलना में वह दृश्य मुझे अपूर्व लगा। रंग बिरंगे रेशमी पर्दों की सजावट, दीवारों पर टँगे हुए रंगीन और सादी तस्वीरों की सजावट और निराले ही रूप-रंग के गुलदस्तों की सजा-वट...देख-देखकर मैं अकचका गया...और वह लड़की जब मीठे-मीठे प्यार-भरे शब्दों में बातें करने लगी तब..."

मेरी अवस्था तब अपेक्षाकृत छोटी थी, इसलिये मैं अत्यंत संकोच-पूर्वक सिर नीचा किये, जैन भैया के रोमानी जीवन की वे सब बातें

सुन रहा था। पर उस 'रोमांस' की अंतिम परिणति का विस्तृत वर्णन सुनने का साहस मैं अपने में बटोर नहीं पा रहा था इसलिये दूसरी चर्चा चलाने के उद्देश्य से मैं बीच ही में बोल उठा—"अच्छा" तो जैन भैया, फ्रांस के बाद तुम लोग कहाँ गये ?"

"अरे पहले पूरी बात सुन तो लो..." तनिक झल्लाकर जैन भैया बोले—"मेरे सुख की दुनिया कैसे उजड़ गयी; मेरी जिंदगी कैसे बरबाद हुई, यह तो मैंने बताया ही नहीं। उसी दिन से मुझे 'सिफिलिस' हो गयी, 'सिफिलिस'! समझे? वह कैसी खतरनाक बीमारी है, यह तुम सोच भी नहीं सकते!"

वास्तव में तब मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि यह बीमारी है क्या चीज। हाँ, इतनी कल्पना मैं अवश्य किये हुए था कि वह कोई बड़ा ही घातक रोग है।

"पर अब तो तुम अच्छे हो गये हो! तब तुम्हारी जिन्दगी कैसे बरबाद हुई ?"

"तुम अभी नादान बच्चे हो! कुछ और बड़े हो जाओ, तब तुम भी स्वयं अपने ऊपर बीतने पर जान जाओगे कि इस बीमारी से जिन्दगी कैसे बरबाद होती है ......"

यद्यपि भाग्य की कृपा से जैन भैया का उस दिन का 'आशीर्वाद' अभी तक मेरे जीवन में नहीं फला है और न कभी फलेगा ऐसी आशा रखता हूँ, तथापि उसकी याद से आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

इसके कुछ ही दिन बाद एक दिन जैन भैया अचानक लापता हो गये। बड़े लम्बे अर्से—प्रायः दस वर्ष—के बाद एक दिन इलाहाबाद में फिर उनके दर्शन हो गये। मैं किसी काम से इलाहाबाद आया हुआ था और पहले ही से अपनी बिरादरी के एक व्यक्ति के यहाँ

ठहरने का इरादा किये हुए था। प्रायः एक बजे दिन का समय था। निश्चित मकान पर पहुँचने पर मैंने बाहर से दरवाजा खटखटाया।

भीतर से आवाज आयी—"कौन है!"

आवाज स्पष्ट ही किसी पुरुष की थी, स्वभावतः यह समझ कर कि कोई नौकर होगा, मैंने कहा—"खोलो!"

"पहले नाम बताओ, तब दरवाजा खुलेगा!"

नाम से मुझे कोई इलाहाबादी नौकर नहीं पहचान सकेगा, यह निश्चित जानते हुए मैंने कहा—"पहले खोलो तो सही, तब नाम बताऊँगा!"

"न!"—दृढ़ स्वर में नेपथ्यांतस्ति व्यक्ति बोला—"तुम चाहे फील्ड मार्शल बर्डवुड ही क्यों न हो, चाहे स्वयं मेरे बाबू जी ही क्यों न हो, मैं बिन नाम बताये दरवाजा हर्गिज नहीं खोलूँगा!"

अच्छे व्यक्ति के पाले पड़ा, यह सोचते हुए तंग आकर मैंने अपना नाम बता दिया, यद्यपि मुझे यह निश्चित विश्वास था कि प्रश्नकर्ता को मेरा नाम जान कर तनिक भी सहूलियत न होगी और नाम के बाद वह धाम, पेशा तथा मेरा हुलिया पूछेगा।

पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मेरा नाम सुनते ही—"आहा!" कहते हुये भीतर-स्थित व्यक्ति ने दरवाजा खोला और मैंने अपने आगे जैन भैया की चिर-परिचित, बहिर्गत दंत-विभूषित मूर्ति को खड़े पाया। इतनी दीर्घ अंतरावधि में भी उनकी आकृति में रंचमात्र का अंतर नहीं आया था—वही झुर्रियाँ, वही अभिव्यक्ति और वही दुबला-पतला, फुर्तीला गठन!

"ओह, जैन भैया! तुम यहाँ कहाँ?"

मैं साल भर से यहीं......बाबू के यहाँ चूल्हा फूँकने का काम करता हूँ। तुम आज कहाँ से......?"

मैं स्पष्ट देख रहा था कि मुझे अतिथि-रूप में पाकर, जैन भैया के मुख की अभिव्यंजना में एक अजीब मिश्रित रंग चढ़ गया था। प्रसन्नता, खीझ, झेंप, और क्रोध का वह रासायनिक मिश्रण देखने ही योग्य था। मैंने सोचा था इतने वर्षों बाद परदेश में अनाचक मुझसे भेंट हो जाने पर विशुद्ध प्रसन्नता के अतिरिक्त और किसी भी भाव की छाया जैन भैया के मुख पर नहीं पड़नी चाहिए थी। तब मैं नहीं जानता था कि उनके भीतर क्या 'द्वन्द्व' चल रहा है।

जब मैं अपना सामान भीतर रखने लगा तब जैन भैया ने एक विचित्र प्रकार की गंभीर मुद्रा में पूछा—"क्या यहीं ठहरने का इरादा है?"

इस प्रकार के प्रश्न की प्रत्याशा मैं जैन भैया के समान सनकी आदमी के मुँह से भी नहीं करता था। कुछ खीझ भरे स्वर में मैंने कहा—"क्यों? तुम्हें क्या कोई आपत्ति है?"

"नहीं, नहीं, आपत्ति की कोई बात नहीं है," सिर खुजलाते हुए जैन भैया बोले—"पर मैं सोच रहा था कि तुम्हारे और भी तो रिश्तेदार यहाँ हैं। उनमें से किसी एक के यहाँ ठहरते तो तुम्हें ज्यादा आराम मिलता!"

जैन भैया की वह बात मुझे बड़ी ही रहस्यमय लगी। कुछ भी न समझने पर भी मैं तिलमिला उठा। कुछ तीखे स्वर में बोला—"दूसरे रिश्तेदारों के यहाँ बड़ा परिवार है, बाल-बच्चे हैं, और यहाँ केवल तुम हो और तुम्हारे बाबू। तिस पर भी तुम्हें मेरे ठहरने पर आपत्ति हो रही है, यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है!"

"नहीं, नहीं, तुम ठहरो! बड़े प्रेम से, बेखटके ठहरो! मैंने तो योंही पूछा था!" सहसा अपने मुरझाये मुख पर अकारण ही अमिश्रित उल्लास झलकाते हुए जैन भैया ने कहा—"पर एक बात है! बाबू जी जब आयें तो उनसे यह न कहना कि मैंने तुमसे कहीं दूसरी जगह ठहरने के

बारे में कोई बात कही है ! मैंने तो बिलकुल मजाक में वह बात कही थी। तुम्हारे आने से मुझे बेहद खुशी हुई है। तुम बड़े अच्छे आदमी हो !" यह कह कर मेरे दोनों कंधों पर अपने दोनों हाथ रख कर जैन भैया ने नाचना कूदना शुरू कर दिया !

मैंने कहा—"मेरे लिए एक प्याला चाय और एक चिलम तमाखू का इन्तजाम कर दो, भैया ! मैं बहुत थका हुआ हूँ।"

"चाय ! तमाखू !" कर कर जैन भैया ने फिर सिर खुजलाना शुरू कर दिया। "यह तो तुमने बड़ी समस्या खड़ी कर दी ! इतने समय इन चीजों का इंतजाम हो सकना बहुत कठिन है !"

"जैसे भी हो, तुम्हें इंतजाम करना ही होगा। रेल की सफर से मेरा बुरा हाल है !"

"अच्छा, देखता हूँ", कह कर जैन भैया मरे मन से चूल्हे की तरफ बढ़े। मैं भीतर जा कर एक चारपाई पर चारों खाने चित लेट गया।

उधर जैन भैया ने सिनेमा के किसी गीत की एक अधूरी कड़ी को एक अनोखे 'मिलिटरी' लहजे में गाना शुरू कर दिया। प्रायः दस मिनट बाद उन्होंने हुक्का ताजा कर के आगे रख दिया। मैं अपने मन की चीज पाकर, परम प्रसन्न हो कर चारपाई पर लेटा-लेटा, आँख मूँद कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। बहुत देर तक गुड़गुड़ाता चला गया, पर न तो मुँह से धुआँ ही निकलता था न तमाखू के तीखे स्वाद का तनिक भी आभास मालूम होता था। यह सोचकर कि अनुभवी जैन भैया ने तवा मोटा रखा होगा, मैं पूरी ताकत से कुछ देर तक और हुक्का गुड़गुड़ता रहा। पर फिर भी कोई फल न हुआ। शायद चिलम की आग बुझ गयी होगी, यह सोचकर मैंने चिलम को फूँकना शुरू किया। लाल अंगारे और तीव्रता से दहक उठे। माजरा क्या है, यह जानने के लिए उत्सुक हो कर मैं बाहर गया और चिलम उलट कर देखने लगा कि तमाखू कुछ भी जला है या नहीं। पर वहाँ जब तमाखू

हो तब ! चिलम में केवल कोरे अंगारे भर दिये गए थे—तमाखू का लेश भी कहीं नहीं था !

मैंने सोचा कि शायद सनकी और अधपागल जैन भैया से भूल हो गयी है । उन्हें बुझाने के उद्देश्य से मैं रसोई में गया । पर वहाँ कोई नहीं था और न चूल्हे पर चाय की केतली ही चढ़ी हुई थी । अत्यन्त निराश हो कर मैं फिर भीतर जा कर लेट गया और जैन भैया के आने का इंतजार करने लगा ।

प्रायः चार बजे जैन भैया लौटे—मेरे रिश्तेदार महोदय के दफ्तर से लौट कर आने के ठीक आध घंटा पहले ।

"कहाँ चले गए थे, जैन भैया ?" मैंने अपनी खीझ को दबाते हुए पूछा ।

"अरे भाई, मोतीलाल जी अभी मोटर में लखनऊ से आये हैं । उनके आने की खबर लगते ही मैं सीधे आनन्द भवन के फाटक पर जा पहुँचा । कार आई और मैंने उन्हें देखा । बिलकुल शेर बबर लगते हैं, शेर बबर सुना है, फील्ड मार्शल बर्डवुड भी उनसे डरते रहे हैं । क्या यह सच है भैया ? तुम्हारा क्या खयाल है ?"

और कोई समय हो तो मुझे हँसी आती । पर तमाखू के संबंध में मेरे साथ किया गया परिहास और चाय के संबंध में एकदम उपेक्षा का घाव मेरे मन में ताजा बना हुआ था । पर जहाँ मोतीलाल नेहरू और फील्ड मार्शल बर्डवुड की बात चल रही हो वहाँ चाय और तमाखू के संबंध में अपनी तुच्छ शिकायत को अधिक महत्व मैं कैसे दे सकता था । इसलिए मन मार कर बोला—हो सकता है । मोतीलाल जी सचमुच बड़े दबंग आदमी हैं ।"

अपने टेढ़े-मेढ़े, गंदे, कुरूप और कदाकार दाँतों की दोनों पंक्तियों को बाहर निकालते हुए परम प्रसन्न भाव से जैन भैया बोले—"आहा ! तुमने यह मेरे मन की बात कही ! और उनका लड़का जवाहर लाल !

वह तो सचमुच जवाहर ही है ! सारी सुख संपत्ति को लात मार कर देश के लिए वह कै बार जेल जा चुका है ! एक वह है माई का लाल और एक मैं भी हूँ कि दूसरों का चूल्हा फूँक-फूँक कर अपनी जिन्दगी बरबाद कर रहा हूँ ! धिक्कार है मेरे जीवन को ! आहा, वीर जवाहर-लाल धन्य है ! तुम देख लेना, जवाहरलाल एक दिन हिन्दुस्तान का वायसराय बन कर रहेगा !"

मैंने कहा—"हाँ !"

मैं यह सोचकर हैरान था कि उसने किस चालाकी से मुझे शिकायत का तनिक भी अवसर नहीं दिया। उसके बाद वह देश की दुर्दशा पर लेक्चर पर लेक्चर बघारता चला गया।

मेरे रिश्तेदार के दफ्तर से वापस आने पर उनसे कुशल-क्षेम की बातें हुईं। उसके बाद मैंने परिहास के तौर पर जैन भैया के तमाखू भरने का किस्सा उन्हें सुनाया। वह सुन कर हँस दिये। जैन भैया को फटकारने या उनके साथ किसी प्रकार का कड़ा व्यवहार करने का साहस स्पष्ट ही उनमें भी नहीं था। उनके आते ही जैन भैया ने मिनटों में चाय तैयार की और एक चिलम महकता हुआ तमाखू भर कर उनके आगे रख दिया। मालिक से अतिथि का महत्त्व अधिक है, यह सिद्धान्त वह कतई मानने को तैयार नहीं थे।

तीन चार दिन के बाद की बात है। सुबह आठ बजे के करीब जैन भैया ने हिसाब की एक कापी अपने बाबू जी के आगे रख दी। महीना समाप्त हो चुका था और उस कापी में जैन भैया ने महीने भर के खर्च का हिसाब पाई-पाई लिख रखा था। मालूम हुआ कि महीने भर का गल्ला, नोन, तेल लकड़ी, सिगरेट, पान आदि का कुल खर्चा जैन भैया स्वयं अपने पास से करते हैं और 'बाबू जी' महीने के अन्त में हिसाब देखकर रुपया चुका दिया करते हैं। कुल हिसाब जोड़ने पर ७० रु०

१२ आना ३ पाई निकला। 'बाबू जी' ने जैन भैया के उस राई-रत्ती और पाई-पैसे के हिसाब में से स्थान-स्थान पर कई रकमें उनसे बिना कुछ पूछे ही काट डालीं, और फिर अंत में अपने हिसाब से 'टोटल' निकाला, जो पचास रुपया कुछ आना निकला। 'बाबू जी' ने पचास रुपये अपनी जेब से निकाल कर जैन भैया के हवाले करते हुए कहा—"इतने से ज्यादा खर्चा पिछले महीने किसी भी हालत में नहीं हुआ होगा। इससे कुछ कम ही हुआ होगा। इसलिए पचास में सौदा कर लो।"

जैन भैया ने खीसें निपोरते हुए अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"अच्छा दस रुपया इसमें और बढ़ा दीजिए, बाबू जी!" उनके चेहरे पर असंतोष का चिन्ह नाम को भी नहीं व्यक्त हो रहा था।

'बाबू जी' ने दृढ़ स्वर से कहा—"नहीं, यह नहीं हो सकता!"

"अच्छा पाँच रुपया तो इस गरीब पर दया करके और बढ़ा दीजिए!"

"नहीं, मैं अब एक कौड़ी भी नहीं बढ़ा सकता!"

"अच्छा, अच्छा, ठीक है। आप नाराज न हों, बस, मैं केवल इतना ही चाहता हूँ!" जैन भैया ने परम भक्ति-भाव से 'बाबू जी' की ओर हाथ जोड़ते हुए कहा।

जब मेरे रिश्तेदार दफ्तर चले गए तब मैंने एकांत पा कर जैन भैया से पूछा—"अच्छा, जैन भैया, तुम्हारी कापी में तो पाई-पाई का हिसाब लिखा हुआ था, तब तुम बीस रुपया, बारह आना, तीन पाई कम हो जाने पर क्यों राजी हो गए? क्या हर महीने तुम इसी तरह अपनी गाँठ से रुपया पूरा कर के बाबू जी को खिलाते हो? तुम्हारे बाबू जी तो बड़े वैसे मालूम होते हैं!"

मैंने जानबूझ कर उसके बाबू जी पर छींटे कसे थे।

"अरे राम! राम! बाबू जी के लिए तुम इस तरह की बात न सोचा करो! वह बहुत बड़ी तबीअत के, दरिया-दिल आदमी हैं!

उन्होंने पचास रुपया ठीक ही दिया है, आजकल की सस्ती में दो आदमियों का माहवार खर्चा ५० रूपये से कम ही बैठता है, ज्यादा नहीं।"

हैरान हो कर मैंने पूछा—"पर तुम्हारा वह हिसाब.........?"

"अरे वह सब करना पड़ता है। चूल्हा फूँकता हूँ तो इससे क्या! पैसा कमाने की थोड़ी बुद्धि मैं भी रखता हूँ। असल में मैं इस किफायत से चलता हूँ कि चालीस रुपये में सब कुछ पूरा हो जाता है। पर जब सत्तर रुपये का हिसाब दिखाता हूँ तब ५० मिलते हैं! साठ दिखाता तो चालीस ही मिलते। बाबू जी दस रुपया महीना तनख्वाह देते हैं, खाना और कपड़ा छोड़कर। पर उतने से मेरा गुजारा नहीं होता। घर में माँ है, बच्चे हैं, भाई हैं, उन सब का ध्यान मुझे रखना पड़ता है। खास कर बूढ़ी अम्माँ का मुझे बहुत खयाल है। दुनिया में सब-कुछ फिर से मिल सकता है, पर माँ नहीं मिल सकती, भैया! आहा, माँ! मैं कैसा बेवकूफ था जो इतने दिनों तक उसे भूलकर उस चुड़ैल के पीछे अपना सब-कुछ नष्ट करता रहा!"

"कौन चुड़ैल?"

"अरे मेरी घरवाली, और कौन? उस दुष्टा के बहकावे में आ कर मैं अपनी माँ और भाइयों से अलग होकर उसके साथ उसके मायके में जा कर रहने लगा था। मैंने जितना कुछ भी रुपया जमा किया था वह सब उसने रख लिया, और उसके बाद भी मैंने जो-कुछ कमाया सब उसी को सौंप दिया। माँ को मैंने कभी एक पैसा नहीं भेजा। एक बार मैं सख्त बीमार पड़ गया और जीने की कोई आशा न रही। इलाज के लिए रुपयों की जरूरत पड़ी तो मैंने उससे माँगा। उसने कहा कि उसके पास एक पाई भी नहीं है। उसने अपने भाइयों को बहुत-सा रुपया जमीन खरीदने के लिए दे दिया था और बाकी का गहना बना लिया था। मैंने गहना माँगा, उसने साफ इनकार कर दिया था। अन्त में

मेरे भाई आ कर मुझे घर ले गए और उन्होंने और माँ ने मिल कर मेरी टहल की। तब से मेरी फूटी आँख खुल गयी। अब मैं एक पैसा भी उस चुड़ैल को नहीं भेजता। सब माँ को और भाइयों को भेजता हूँ। उस हरामजादी ने मेरे साथ इतना बड़ा विश्वासघात किया। पर मैंने भी वह बदला चुकाया है कि वह जिन्दगी भर याद करेगी!"

"कैसे?" मैंने कौतूहलवश पूछा।

"जो 'राजरोग' मैं लड़ाई से लाया था, उसका विष उसके शरीर में भी फैल गया है। हा ..हा...हा...!"

मैं आतंकित हो उठा। शैतान के दुर्ग की चहारदिवारी को भेदता हुआ वह अट्टहास बहुत देर तक मेरे कानों में गूँजता रहा।

"अच्छा भैया, अब चलें! मुझे सिनेमा के कागज बाँटने हैं!"

"क्या तुम यह काम भी करते हो?"

"नहीं तो सिनेमा देखने को कैसे मिले! पैसे तो मैं खर्च नहीं कर सकता। और हर रोज बिना सिनेमा देखे मुझे नींद नहीं आती। आज-कल माधुरी की 'ऐक्टिंग' वाला खेल चल रहा है। आहा! सचमुच माधुरी माधुरी ही है—हालाँकि सुलोचना उससे कहीं अच्छी है। जब वह कहती है—'प्याड़े, किया टुम्हाड़े-हमाड़े पड़म का ऐन्ट हयीं पड़ हो जागा?' तो उसके मुँह से वह तोतली हिन्दी बड़ी ही प्यारी लगती है! अच्छा, भैया जाता हूँ......"

और वह तेज कदम रखता हुआ गाता चला गया—

जिसने दिया है दर्दे दिल
उसका खुदा भला करे।

———

मिस एल्किन्स

प्रायः २५ वर्ष पहले की बात है। मुझे स्कूली शिक्षा समाप्त किये दो ही एक वर्ष हुए थे। चूँकि आगे किसी कालेज में न पढ़ने की बात तय हो चुकी थी, इसलिए जीवन की चरम साधना—किसी आफिस में एक साधारण क्लार्क का पद पाने का स्वप्न—किस प्रकार सफल हो, इस धुन में इधर-उधर भटकने के उद्देश्य से घर से निकल पड़ा। सभी स्थानों को छोड़कर मैं शिमला कैसे पहुँच गया, इसका ज्ञात कारण मैं स्वयं नहीं जानता, अज्ञात कारण चाहे कुछ रहा हो।

पर शिमले आकर मैं पछताया नहीं। वहाँ के पहाड़ी वातावरण ने मेरी पहाड़ी आत्मा को एक नयी स्फूर्ति प्रदान की। नजीर का यह कथन मुझे बार-बार याद आता था—

ख़ाक हूँ तो भी मेरे दिल में हैं अरमान कई!

तब मेरे नवयौवन का एकदम प्रारंभिक काल था, इसलिए किरानी मनोवृत्ति के ग्रहण की छाया से यद्यपि मेरी आत्मा ग्रस्त थी, तथापि उस छाया के नीचे अदम्य महत्त्वाकांक्षाएँ अनंत विश्व में मुक्त रूप से उड़ान भरने को विकल हो रही थीं। आकाशमुखी देवदारु-अवली की सघन छाया से घिरी हुई शिमले की पहाड़ी चोटियाँ, वहाँ का मुक्त नीलाकाश और शीतल वातावरण मेरी इन महत्त्वाकांक्षाओं को जैसे अत्यन्त स्नेह से दुलरा रहा था।

नये और पुराने मित्रों की अनुकंपा से मुझे जल्दी ही नौकरी मिल गयी। कालीनों का अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार करनेवाली एक अँगरेज कम्पनी के आफिस की जो शाखा शिमले में थी, वहाँ मैं एकाउन्टेन्ट्स क्लार्क की हैसियत से प्रायः १०० रु० मासिक वेतन पर नियुक्त हो गया।

उस समय साहित्याकांक्षा मेरे मन में आज से कुछ कम थी ऐसा मैं नहीं समझता। पर साहित्याकांक्षा से भी अधिक जीवन के नये-नये अनुभवों की आकांक्षा मेरी भीतर प्रबल थी। अन्यथा कालीन के व्यापार से संबन्धित कम्पनी और उसमें भी एकाउन्ट्स क्लार्क की हैसियत से नौकरी—ये दोनों बातें किसी भी अनुभूतिशील साहित्यिक को पूर्णतया पीस डालने के लिए पर्याप्त थीं, और मुझ जैसा भावुक प्राणी तो उन दो पाटों के बीच में एकदम मसल ही गया होता।

पर मैं मसले जाने से रह गया। उसका एक कारण मैं पहले ही ही निर्देशित कर चुका हूँ, पर एक दूसरा कारण भी था जो पहले कारण से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं था—बल्कि शायद अधिक ही रहा होगा।

जिस आफिस में मैं काम करता था उसके प्रधान पुरुष दो अँगरेज थे—एक मिस्टर सिलवर और दूसरे मिस्टर टेलर। सिलवर साहब २००० रु० मासिक वेतन पाते थे और टेलर साहब १००० रु०। उस जमाने के लिए यह वेतन बहुत अधिक था। दोनों ठेठ अँगरेज थे—उनकी पैदाइश विलायत की थी। उनके नीचे कृपाशंकर नामक एक सज्जन काम करते थे, जो संभवतः २५० रु० मासिक पाते थे। कृपाशंकर जी के बाद, मुझे छोड़कर, तीन और व्यक्ति काम करते थे, जिनमें एक बंगाली (दत्त) था और दो अँगरेज लड़कियाँ थीं। बड़ी लड़की का नाम मिस एलेन था और छोटी का मिस एटिकन्स। दत्त एक साँवले रंग का युवक था। उसका सारा चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ था। संभवतः चेहरे की इस कमी ने उसके भीतर आत्मलघुता का बोध जगा दिया था, जिसकी प्रतिक्रिया एक विचित्र रूप में प्रकट होती थी—वह बड़ी कड़ाई से अँगरेजी ठाठ का पालन किया करता था और यह स्पष्ट था कि पैंट में तनिक भी तह बिगड़ने अथवा टाई में तनिक भी टेढ़ापन आने से उसे मार्मिक पीड़ा पहुँचती होगी। वह

अपने विलायती जूतों को चरमराता हुआ अकड़ कर चलता और बोलते समय भरसक ठेठ विलायती उच्चारण का खयाल रखता था। कालीन की कम्पनी होने से हमारे दफ्तर में प्रायः सभी कमरों में तख्तों से पटे हुए फर्श पर इफरात से कालीन बिछे रहते थे, केवल किनारे पर प्रायः दो फीट चौड़ी जगह छोड़ दी जाती थी, जिस पर केवल दरी बिछी रहती थी। चूँकि कालीन पर चलने से जूतों के चरमराने का शब्द सुनाई नहीं दे सकता था, इसलिए दत्त संभवतः जानबूझकर किनारे से होकर चलता था। चपरासियों के लिए वह पूरा जल्लाद था। पर महिलाओं के साथ वह अत्यन्त शिष्टताभरी मुसकान के साथ बड़े सौजन्य से बातें करता था। साहबों के आगे वह सैनिक कायदे और कवायद का पालन किया करता था।

प्रारंभ में कुछ दिनों तक मैं उससे बहुत भयभीत रहता था और भरसक उससे कम से कम तीन गज के फासले पर रहने का प्रयत्न करता रहता था। तिस पर भी वह दो एक बार बरबस मेरे ऊपर आ टूटा। वह यद्यपि अपने ही काम से आया था, तथापि आते ही वह मुझसे अफसराना रौब से बातें करने लगा। मैं भीतर से कुछ डरा हुआ होने पर भी बाहर से अत्यन्त शिष्ट गंभीरता पूर्वक उससे पेश आया। मेरे गंभीर किन्तु अपेक्षाकृत संकोची स्वभाव का उसने गलत अर्थ लगाया और मुझे निरा बुद्धू समझकर मेरी शिष्टता का अनुचित लाभ उठाने लगा। बात-बात में वह मुझपर अपने बड़प्पन की धाक जमाया करता। मेरे क्षोभ की कोई सीमा न रही, और मेरी समझ में नहीं आता था कि किस रूप में मैं उससे बदला चुकाऊँ।

संयोग से घटनाचक्र कुछ ऐसा चल गया, जिसकी मुझे कोई कल्पना नहीं थी, पर जिसके फलस्वरूप दत्त पर मेरे बिना चाहे, उलटे मेरी धाक जम गयी। उस दैवी बदले से जैसा संतोष मुझे हुआ वैसा फिर शायद ही कभी हुआ हो।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि हमारे आफिस में दो अँगरेज़ लड़कियाँ काम करती थीं, जिनमें से एक कैशियर थी और दूसरी स्टेनोग्राफर। इनमें से दूसरी लड़की—मिस एल्किन्स—दोनों में से छोटी भी थी और अधिक सुन्दर भी। वे दोनों एक ही कमरे में प्रायः साथ-साथ काम किया करती थीं। दत्त का कमरा उनके कमरे की बगल में ही था। पर मेरा कमरा बिलकुल दूसरे सिरे पर था। फिर भी मिस एल्किन्स किसी-न-किसी काम से दिन में कम से कम एक बार मेरे कमरे में अवश्य आती थी। स्टेनोग्राफरी के अतिरिक्त उसे थोड़ा सा हिसाब-किताब का काम भी सौंपा गया था। उसी सिलसिले में वह मुझसे यह पूछने आती थी कि डेबिट-क्रेडिट ठीक है या नहीं। चूँकि मैं एकाउन्ट्स विभाग में काम करता था, इसलिए वह स्वभावतः मुझे पक्का हिसाबी आदमी समझती होगी, जब कि वास्तविकता यह थी मैं हिसाबी मामलों में एकदम कच्चा था। पर अपनी यह कमजोरी मैं भरसक कभी किसी के आगे प्रकट न होने देता।

जब वह मेरे पास आती तो मेरी बगल में मेरी मेज पर झुककर खड़ी हो जाती। उसके बालों से, कपड़ों से तथा मुँह से एक मिश्रित और मोहक सुगंध उड़ उड़ कर मेरे मन पर एक विचित्र प्रभाव छोड़ देती, जिससे प्रभावित होने की अपेक्षा मैं आतंकित ही अधिक होता था। मेरे इस आतंक का कारण स्पष्ट था। उन दिनों अँगरेज साहबों और मेमों की धाक निरीह भारतवासियों पर बुरी तरह जमी हुई थी। व्यक्तिगत रूप से तब मेरे लिए मिस एल्किन्स तथा तत्कालीन वाइसेरीन लेडी रीडिंग में तनिक भी अंतर नहीं था। इसलिए एक प्रायः ठेठ अँगरेज महिला को जब मैं अपने इतने निकट पाता तब वायु-तरंगों में आमोदित उसके शरीर की सुगंध मुझे अत्यन्त भय-विह्वल कर डालती थी। मैं सोचता कि वह स्पर्शिता-रहित छुई-मुई न जाने मेरे गंदे कपड़ों की दुर्गंध से किस कदर सर-दर्द का अनुभव कर रही होगी, और अपनी

साँस को भरसक रोकने का प्रयत्न कर रही होगी। इस कल्पना से मेरा सारा शरीर सिकुड़ उठता। यह ठीक है कि यह सब मेरी कल्पना थी और न उसके मुँह के भाव से न बातों से उसके नाक-भौं सिकोड़ने का भाव प्रकट होता था। पर मेरा यह भ्रम मन पर ऐसा जमा हुआ था कि आसानी से नहीं हट सकता था। इसलिए जब वह मेरे पास कुछ पूछने आती तो मैं अपने को बड़ी परेशानी की हालत में पाता था। दूर से मैं उसका बड़ा प्रशंसक था, पर निकट में वह जैसे मेरे लिए फाँसी का परवाना लेकर आती थी।

पर उसने भी जैसे मेरी आत्मग्लानि और संकोच की जड़ता को दूर करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। इसका आरंभ इस प्रकार हुआ।

मैं जानता था कि मि० टेलर मिस एल्किन्स के प्रति आकर्षण का अनुभव करते हैं, और मिस एल्किन्स के उसके पास पहुँचते ही उनका जालिम स्वभाव एकदम मक्खन की तरह पिघल कर विशुद्ध हास्य-रस में परिणत हो जाता है। मि० टेलर की आयु तब पचास से दो-एक साल कम ही रही होगी। वह अविवाहित थे और उनके ऊपर कोई बंधन नहीं था। कहने को १,००० रु० मासिक वेतन पाते थे, पर उनकी आय के कई दूसरे गुप्त जरिए थे। मैं यह भी जानता था कि अँगरेजों के यहाँ ५० वर्ष तक का व्यक्ति पूर्ण युवक माना जाता है। इसलिए यह बिलकुल स्वाभाविक था कि मिस एल्किन्स मिस्टर टेलर के प्रति वैसी ही कृपा-दृष्टि रखती जैसी कि वह उस पर रखते थे। कम से कम उस समय मैं यही सोचता था।

जैसा कि मैं निर्देशित कर चुका हूँ, मिस्टर टेलर स्वभाव में पूरे जल्लाद की तरह थे—कम से कम मुझे तो वह ऐसे ही लगते थे। मेरा कमरा उनके कमरे की बिलकुल बगल में था। उन्हें जब कभी कोई काम मुझसे लेना होता तो अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे तीखी आवाज में

पुकारते—"वै-बू-ऊ-ऊ !" और सब व्यक्तियों को वह उनके नाम से पुकारा करते थे, पर मुझे वह केवल 'बाबू !' कह कर पुकारते थे—स्पष्ट ही मेरे प्रति अत्यन्त उपेक्षा का भाव प्रकट करने के उद्देश्य से।

जब मैं डरता हुआ उनके पास जाता तो वह एक विचित्र—संभवतः वेल्श—उच्चारण में, कुछ कहते, जिसे समझने में मुझे काफी समय लग जाता। उन्हें दो-तीन बार अपनी बात दुहरानी पड़ती तब भी कभी कभी मैं गलत समझ बैठता। फलस्वरूप वह बुरी तरह झल्ला उठते, और मेज पर कागज या फुट-स्केल पटकने लगते। आरंभ में मैं उनके इस स्वभाव से बहुत ही कंपायमान रहता, पर बाद में उसमें रस लेने लगा था।

जब उनकी मुझसे चखचख चल रही होती तब यदि कभी मिस पुल्किन्स, बिना अनुमति माँगे, बेखौफ भीतर घुस आती, तब मिस्टर टेलर के चेहरे का कायाकल्प देखने ही योग्य होता था। तब उनका वह रौद्र-रूप भीगी बिल्ली की स्थिति को प्राप्त हो जाता था और मक्खन भरी मुसकान के साथ वह मुँह से घोड़े का-सा जो "हें-हें-हें-हें" ! स्वर निकालते थे वह अवर्णनीय लगता था।

एक दिन मैं पिछले मास का 'डेबिट-क्रेडिट' मिलाने में तल्लीन था। बार-बार जोड़ने पर भी डेढ़ रुपये का फरक आ रहा था। यह अत्यन्त लघु रकम न जाने कहाँ छिपी पड़ी थी, बार-बार जोड़ने पर भी उसका कहीं कोई पता नहीं लग पाता था। मैं मन-ही-मन बुरी तरह झुँझलाया हुआ था कि इतने में सहसा फटे हुए भोंपू की सी आवाज मेरे कानों से आ कर टकरायी—"प्रै-सी !"

मैं जानता था कि टेलर साहब चपरासी का प्रारंभिक व्यंजन 'च' को 'प' के पेट में एकदम विलीन करके 'प्रै-सी' उच्चारण करते हैं। दुर्भाग्य से उस समय एक भी चपरासी पास में नहीं था—सभी कहीं दूसरे कामों से गए हुए थे। एक मिनट बाद साहब फिर पहले से भी

तीखी आवाज़ में बोले—"प्रेसी !" पर जब कोई चपरासी वहाँ हो तब ! तीन-चार बार आवाज देने पर भी कोई चपरासी न आया तो साहब झल्ला उठे, और उसी झुँझलाहट में और अधिक तीखेपन से बोले—"बे-बू-ऊ-ऊ !" मेरी सारी रूह ही जैसे काँप उठी। मैं हड़बड़ाता हुआ उठा और साहब के कमरे में पहुँचा। वहाँ जाकर देखा सामने मिस एल्किन्स खड़ी थी और नीचे कई फाइलें बिखरी हुई अवस्था में पड़ी थीं।

साहब बोले—"वेल बे बू-ऊ-ऊ ! इन सब फाइलों को उठा कर मिस एल्किन्स के कमरे में पहुँचा दो !"

मैं स्तब्ध रह गया। एक ही दृष्टि में अंदाज लगा लिया था कि कुल फाइलों का वजन २० सेर से कम न होगा। क्षण-भर तक मैं अवाक् खड़ा रहा। उसके बाद भीतर से पूरी शक्ति बटोरता हुआ अत्यन्त दृढ़ स्वर में बोला—"नहीं, यह नहीं हो सकता। किसी चपरासी से कहिए !"

"पर यहाँ कोई चपरासी इस समय नहीं है, और काम बहुत जरूरी है !" प्रायः गरजते हुए साहब बोले।

"मुझे दुःख है......"

"तब क्या तुम सचमुच नहीं ले जाओगे ?" धमकी-भरे स्वर में साहब ने कहा।

"जी नहीं !"

"अच्छी बात है, तुम जाओ !"

मैं जा ही रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि मिस एल्किन्स की अनुनय भरी सुन्दर आँखों पर पड़ी। वैसी स्नेह-व्याकुल आँखें मैंने बहुत कम देखी हैं। चार आँखें होते ही वह मुझसे बोली—"प्लीज़ !"

मैंने उसी दम फर्श पर पड़ी हुई फाइलें बटोरनी शुरू कर दीं। उसके बाद अपने शरीर की दुर्बलता के बावजूद न जाने कहाँ से मैंने शक्ति का संचय कर लिया और बीस सेर वजन अपनी बगल में दबा कर मिस एल्किन्स के साथ हो लिया।

जब मिस एल्किन्स के कमरे में मैंने अपना बोझ उतारा तो उसने आंतरिक सहृदयता का भाव मुख पर झलकाते हुए जो धन्यवाद दिया वह मेरे लिए एक नये ही अनुभव की चीज थी।

एक दिन जब मैं अपने मित्र के बँगले से दफ्तर को नित्य की तरह पैदल जा रहा था तो रास्ते में मूसलाधार पानी बरसना शुरू हो गया। रास्ते में कोई ऐसी जगह नहीं दिखायी दी जहाँ मैं पानी से बचने के लिए खड़ा हो जाता। इसलिए पानी से तर-बतर होकर दफ्तर में पहुँचा। दफ्तर में मैं न अपने गरम कपड़े उतार सकता था, न बदल सकता था। इसलिए रूमाल से मुँह पोंछकर मैं कृत्रिम स्वाभाविकता की मुद्रा में अपनी कुर्सी पर बैठ गया, यद्यपि मेरा प्रति रक्त-कण अपनी तत्कालीन विवशता पर कुढ़ रहा था।

मैं तनिक सुस्ताने भी न पाया था कि बाहर से ऊँची ऐड़ीवाले जूतों का द्रुत शब्द सुनायी दिया और भड़म-से मेरे कमरे का दरवाजा खुला। अत्यन्त भयभीत होकर मैंने देखा कि मिस एल्किन्स अपनी स्वाभाविक सौजन्य-भरी मुसकान से मुस्कराती हुई सामने खड़ी है। मेरी सारी आत्मा उस दिन उसे देखकर जिस कदर जल उठी उसका वर्णन मेरे साध्यातीत है। मेरी दुर्दशा पर तनिक भी दया न करते हुए वह सहज स्निग्ध भाव से फुलझड़ियों के से शब्दों में बोली—"चलो मेरे कमरे में। मि० टेलर से मैंने पूछ लिया है। कुछ आँकड़े मिलाने हैं। यहाँ ठीक न पड़ेगा। चलो जल्दी!"

मेरे लिए सिवा उसका कहना मानने के दूसरा चारा नहीं था। रोनी-सी सूरत बनाता हुआ (जिसका नक्शा मैं बिना देखे भी संभवतः सही-सही अनुभव कर रहा था) मिस एल्किन्स के साथ हो लिया।

अपने कमरे में ले जाकर उसने मुझे बड़े आदर से अपने सामने वाली कुर्सी पर बिठाया, जैसे मैं उसका कोई विशेष अतिथि होऊँ। मैं अत्यन्त संकोच से अपने गीले कपड़ों से कुर्सी को तर करता बैठ

गया। रूमाल से (जो एकदम भीग चुका था) निरंतर अपना कपाल और आँखें पोंछता जाता था, क्योंकि मेरी पतले कपड़े की कच्चे रंग की नीली टोपी से निरंतर कई नीली धारें वसुधारा की तरह नीचे को प्रवाहित होती चली जाती थीं। मेरे हठ और मूर्खता की इस चरम सीमा की कल्पना कीजिए कि आफिस में पहुँचने पर टोपी उतारकर रख देने का फैशन होने पर भी मैं टोपी सर पर डाले रहा। मेरे इस विचित्र हठ का एक कारण शायद यह भी था कि मेरा पहनावा बड़ा अजीब था। खुले कालर का गरम कोट, उसी के मेल का गरम वेस्टकोट पहनने पर भी न तो मैं टाई बाँधा करता था न पैंट पहनता था। बाहर को निकली हुई कमीज, ढीला पाजामा, पावों में भूरे रंग के मोजे और काले रंग के जूते पहने था। अपने पहनावे के इस बेमेलपन को मैं परा-काष्ठा तक प्रदर्शित करने की जिद किये बैठा था। मैं मन-ही-मन जैसे मिस एल्किन्स को संबोधित करता हुआ कह रहा था—"तुम मुझे निश्चय ही एक साधारण वेतन पानेवाला 'नेटिव' किरानी समझती हो, और ऊपर से चाहे कैसा ही भाव प्रदर्शित क्यों न करो, भीतर से निश्चय ही मुझसे घृणा करती होगी। तो लो, मेरे वेष की विचित्रता और 'एटीकेट' की निपट अज्ञता देखकर और अधिक चिढ़ो। तुम्हारे मन में मेरे प्रति और अधिक घृणा उमड़े मैं यही चाहता हूँ।"

पर मुझे दुख और आश्चर्य हो रहा था कि उसके मुख पर घृणा या अवज्ञा का लेशमात्र आभास भी व्यक्त नहीं हो रहा था।

मैं चाहता था कि वह तत्काल काम की बात चलावे, पर वह स्पष्ट ही काम के लिए विशेष चिंतित न दिखायी दी। मेरी खीझ बढ़ती चली जा रही थी, जिसके कारण मैं केवल आधी दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। मेरे पीछे मिस एलेन बिजली की अंगीठी में चाय की केतली चढ़ाए हुए प्यालों और तश्तरियों को खनका रही थीं, और शायद हम दोनों का मौन नाटक देख रही थीं।

मिस एल्किन्स की सहज स्निग्ध मुसकान धीरे-धीरे दुष्टता की मौन हँसी में परिणत होती चली जा रही थी, पर सच पूछिए तो उस दुष्टता के बावजूद उसके भाव की स्निग्धता में तनिक भी अंतर न आया, बल्कि वह और अधिक स्नेह-सरस लगने लगी। पर फिर भी उसकी सहृदयता पर मुझे तनिक भी विश्वास न हुआ, और मेरा वह विश्वास धीरे-धीरे बढ़ता चला गया कि केवल मुझे बुरी तरह बनाने और अपमानित करने के इरादे से वह मुझे अपने कमरे में बुला ले आयी है। क्रोध और आत्मग्लानि से काँपता हुआ मैं अविराम रूमाल से कपाल, आँख और नाक पोंछता चला गया।

सहसा उसी दुष्टता-भरी मार्मिक मुसकान के साथ वह बोली—"क्या टोपी नहीं उतारोगे?"

"नहीं!" निपट रूढ़ स्वर में मैंने उत्तर दिया।

"वट् ह्वाइ आर यू सो क्रास?" मिस एल्किन्स का यह कहना था कि पीछे से मिस एलेन जैसे बरबस खिलखिला उठी, और साथ ही मिस एल्किन्स भी इतनी देर से दबाये हुए अपने हास्य के विस्फोट को न रोक सकी। मेरा चेहरा इतना सा हो गया। जरूर अस्वाभाविक रूप से लाल हो उठा होगा। एक बार तरंग उठी कि तत्काल उठ कर बिना कुछ कहे-सुने वापस चल दूँ। पर जैसे फर्श के चुंबक ने मेरे लोहे से भारी पाँवों को जकड़ लिया था और चाहने पर भी मैं उन्हें उठा नहीं पाता था।

"अच्छा लो, चाय पीओ!" मिस एलेन दो प्याले मेज पर रखती हुई बोली। दो प्लेट में बिस्कुट भी उसने रख दिए। जब से मैं उस दफ्तर में काम करने लगा था तब से उस दिन पहली बार मैंने दिन में चाय पी। और सब लोग या तो पास ही किसी रेस्तोराँ में चाय पी लेते थे, या मिस एल्किन्स और मिस एलेन की तरह दफ्तर में ही अपना अलग इंतजाम रखते थे।

उस चाय में न जाने क्या जादू था, एक घूँट पीते ही मेरा सारा मनोभाव बदल गया, और लगा कि मेरे भीतर की आँख से जैसे एक धुंध हट रहा है, जिसे मैं इतने दिनों तक अपनी उस भीतरी आँख का एक स्वाभाविक और अविच्छेद्य अंश समझता था। पहली बार मुझे मिस एल्किन्स की निकटता सहज स्वाभाविक रूप से सुखद और प्रिय लगी।

आधा प्याला समाप्त होने पर मैंने चेहरे पर कुछ हँसी झलकाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"क्या मिस्टर टेलर से तुमने मुझे केवल चाय पिलाने के लिए ही यहाँ ले आने की अनुमति चाही थी?"

"नाराज न होओ, अभी आँकड़े मिलाने का काम शुरू करती हूँ।" कहते हुए उसने उसी स्नेह-स्निग्ध, तथापि व्यंग-भरी मुसकान से मेरी ओर देखा। पर मुझे इस बार उसकी वह दृष्टि अमिश्रित आनन्द-रस से छलकती हुई लगी। तत्काल मुझे रवीन्द्रनाथ की वह कविता याद आयी जो उन्होंने नवल मुनिकुमार ऋष्यश्रृङ्ग को मुग्ध करने के उद्देश्य से आश्रम में गयी हुई वार-वनिता के मुख से कहलायी है—

प्रथम रमणी दरश मुग्ध
से दुटि सरल नयन हेरि,
हृदय आमार नारीर महिमा
बाजाये उठिल विजय भेरी!

यद्यपि ऐसी बात नहीं थी कि मिस एल्किन्स के पहले मैंने किसी रमणी को देखा ही न हो, तथापि यह निश्चित था कि वह ऐसी पहली नारी थी जिसे मेरी आँखों ने उस दिन पहली बार नवयौवन के रंगीन प्रकाश में देखा। मुझे पूरा विश्वास है कि तब मेरी आँखें ऋष्यश्रृङ्ग की ही तरह सरल रही होंगी। पर यह मैं नहीं जानता कि उन्हें देख कर मिस एल्किन्स के हृदय में नारी की महिमा की विजय-भेरी किसी हद तक बज उठी या नहीं।

चाय पी चुकने पर उसने मेरे आगे एक रजिस्टर खोल कर रख दिया और स्वयं कागज के कुछ बड़े-बड़े तख्ते ले कर आँकड़े पढ़ने लगी—फाइव-नाइन-नाट-नाट, नाइन,थ्री; थ्री-सैवन-एट-नाट, फिफ्टीन, सिक्स; फोर-नाइन-टू-थ्री, नाट, नाट, आदि-आदि । मैं गौर से मिलाने का प्रयत्न कर रहा था, पर मन काम से उचट गया था, और बीच-बीच में कनखियों से मैं उसके रक्ताभ श्वेत मुख की ओर देख लेता था । मुझे पूरा विश्वास है कि यदि आँकड़े पहले ही ठीक न रहे होंगे तो उनमें निश्चय ही गलतियाँ छूट गयी होंगी ।

आँकड़े मिलाने का काम जब समाप्त हो गया तब मैं उठा । वह भी उठी और उसने मुझे मुक्त प्रसन्नता से धन्यवाद दिया। मैं भी प्रत्याभि-वादन के रूप में मुस्कराता हुआ चल दिया ।

उस दिन से मेरे दिमाग में एक विचित्र कीड़ा घुस गया, जिसे मैं न तो निकाल पाता था, न उसके कुलबुलाने को सहन कर पाता था । मैं सोचता—"क्या यह संभव हो सकता है ? क्या वह दो-तिहाई अँगरेज तरुणी मुझ जैसे अत्यन्त साधारण स्थिति के सौजन्य और शिष्टाचार की शिक्षा से रहित, विचित्र वेष-भूषा-युक्त 'नेटिव' के प्रति सचमुच आकर्षित हो सकती है ?" बुद्धि इस प्रश्न का तुरन्त नकारात्मक उत्तर दे देती थी, पर हृदय अपने-आप को ठगने की कला में सदा की भाँति तब भी उत्साह प्रकट कर रहा था ।

तब से वह मुझे अक्सर अपने कमरे में किसी-न-किसी काम के बहाने ले जाती और चाय पिलाती, कभी मुझे चिढ़ाती, कभी बनाती और कभी-कभी 'रिझाती' भी थी ।

एक दिन शनिवार को जब मैं दो बजे छुट्टी होने पर घर लौट रहा था तो मिस एलिकन्स ने रास्ते ही में मुझे रोकते हुए सूचित किया—"कल हम लोगों ने पिकनिक के लिए मशोबरा जाने की बात तय की है । तुम्हें भी पार्टी में शरीक कर लिया गया है ।"

"मुझसे बिना पूछे ही ?"

"पूछने की कोई आवश्यकता मैंने इसलिए नहीं समझी कि कार्यक्रम में कोई ऐसी बात नहीं है जो तुम्हारी रुचि के खिलाफ पड़े !"

"कै बजे रवाना होना होगा ?"

"ठीक ग्यारह बजे तुम जनरल पोस्ट ऑफिस के पास पहुँच जाना। हम वहीं तुम्हें 'पिक अप' कर लेंगे।"

दूसरे दिन मैं ग्यारह बजे के पहले ही जनरल पोस्ट ऑफिस पहुँच गया। प्रतीक्षा करते-करते प्राय: बारह बज गए, पर न तो मिस एल्किन्स आयी न 'हम लोगों' में से कोई दूसरा व्यक्ति। मैं अपने को मूर्ख बनता जान बहुत खिन्न हो उठा। घर लौटने ही को था कि सामने मिस एल्किन्स को बड़ी तेज चाल में पोस्ट ऑफिस की ओर आते हुए देखा।

"कहो, इतनी देर क्यों ? और लोग कहाँ हैं ?"

उसके चेहरे में एक अनोखी घबराहट के चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे थे।

"सारा प्रोग्राम चौपट हो गया ! मिस एलेन की तबीअत ठीक नहीं है, और दत्त को सूचित करने पर भी वह नहीं आया..."

"तब ?" अत्यन्त खीझ-भरे स्वर में मैंने पूछा।

"तुम जैसा कहो। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम दो ही जने चलें। मशोबरा अच्छी जगह है।"

"मुझे क्या एतराज हो सकता है !" सारा रहस्य-जाल कुछ न समझते हुए मैंने कहा।

"तब चलो। मॉल से टिफिन के लिए टिन में बन्द कुछ चीजें रख लें।"

मॉल में जा कर जब हम लोग पर्याप्त सामान खरीद चुके तो एक

रिक्शा तय करके उस पर बैठ गए। पाँच पहाड़ियों द्वारा ढोये जाने वाले उस यान की सहायता से हम लोग प्रायः ढाई बजे मशोबरा पहुँचे।

वहाँ पहुँच कर पहाड़ की चोटी पर से चारों ओर की हरी-भरी पहाड़ियों का जो सुन्दर दृश्य मैंने देखा उसने वहाँ के एकांत वातावरण में बहुत दिनों बाद मेरी बद्ध आत्मा को सहसा जैसे मुक्त कर दिया। आफिस के वातावरण से इतने दिनों तक मेरे सुकुमार तरुण प्राणों में जो मोर्चा लगने लगा था वह अचानक छूमंतर हो कर फिर से अपने मौलिक रूप में झलझलाने लगा। एक टीले पर बैठ कर आनन्द मग्न भाव से सामने त्रिकोणात्मक देवदारुओं की कतारों को देखता हुआ मैं बोला—"मिस एल्किन्स, तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद है!"

"क्यों?"

"इतनी सुन्दर जगह तुम ले आयी हो। जानती हो, आज मेरी आत्मा में बहुत दिनों बाद कविता का स्रोत फिर से फूट पड़ा है!"

"तुम क्या कवि हो?" अकृत्रिम आश्चर्य से उसने पूछा। अभी तक वह खड़ी थी, मेरी बात सुन कर वह भी मेरी बगल में बैठ गयी।

मैंने कहा—"था किसी जमाने में...।"

"किसी जमाने में! जब तुम बच्चे थे तब?"

"हाँ, तभी समझो, क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि कविता वास्तव में बचपन की ही चीज है। सच्चे कविलोग अपनी जवानी में प्रेम की सुन्दर कविताएँ तभी लिख पाते हैं जब वे अपने बचकानेपन को पूर्णतया अपनाने में समर्थ होते हैं!"

"अच्छा, अपनी कोई कविता सुनाओ। मुझे कविताओं से बड़ा प्रेम है।"

"हिन्दी की कविता तो तुम समझ नहीं पाओगी। पर चूँकि मेरे मन में आज कवि-प्रवृत्ति जगी है, इसलिए तुम्हें कुछ फ्रांसीसी कवियों की पंक्तियाँ सुनाऊँगा।"

"तुम क्या फ्रेंच भी जानते हो?" पुलक-भरे विस्मय से उसने कहा।

"थोड़ी-बहुत।"

"ओह!"

उसके बाद मैंने कुछ फ्रांसीसी कवियों के चुने हुए प्रेम-गीतों के पद सुनाना आरम्भ कर दिया और उनका अर्थ भी उसे समझाता चला गया। मैं पूरी तन्मयता से, अपने आस-पास की पार्थिव वास्तविकता को एकदम भुला कर सुनाता चला जा रहा था। फ्रांसीसी कवियों की कविताएँ सुनाने के बाद मैंने उन्नीसवीं शताब्दी के अँगरेज कवियों की पंक्तियाँ सुनानी आरम्भ कीं और उनका भी भाष्य अपने ढंग से किया। जब मेरी तन्मयता भंग हुई तो मैंने उसकी ओर देखा। उसकी भाव-विमुग्ध आँखों में एक निराली मोह-विह्वल सजलता छायी हुई थी। स्पष्ट ही उस दिन उसने मेरा एकदम नया रूप देखा था।

कुछ देर तक हम दोनों मौन भाव से एक-दूसरे की आत्मा की निकटता का मौन अनुभव करते रहे। उसके बाद मैं पार्थिव लोक में लौट आया और जो टिन हम अपने साथ लाए थे उन्हें काटने लगा। संभवतः आवाज से मिस एल्किन्स की भी मोह-निद्रा भंग हुई। एक लंबी साँस खींच कर वह उठी और मेरी मदद करने लगी।

जब हम लोग खा पी चुके तब सांध्य सूर्य की पीली छाया पहाड़ी शिखरों को चूम रही थी। इक्का-दुक्का पक्षी बीच-बीच में किसी अज्ञात आशंका से उस एकांत वातावरण को चीरता हुआ चीख उठता था। उसके अतिरिक्त चारों ओर निपट सन्नाटा छाया हुआ था, जो झींगुरों के सम्मिलित स्वर में जैसे विरही पहाड़ी प्रकृति के बिलखते प्राणों की धड़कनें भर रहा था। हम लोग पिछले स्थान से कुछ हट कर एक खाली कोठी के पास खड़े थे। मिस एल्किन्स पश्चिम दिशा की पीताभ पहाड़ियों की ओर स्वप्नाविष्ट सी आँख गड़ाए थी।

सहसा मैंने उसका ध्यान भंग करते हुए कहा—"मिस एल्किन्स ! अब चलें।"

पासवाली खाली कोठी से मेरा कथनशब्द प्रति-शब्द दुगनी तीव्रता से प्रतिध्वनित हो उठा, जैसे कोई शैतान उस नीरव संध्या में अलक्ष्य से व्यंग कर रहा हो—"अब चलें !"

मैं अपनी ही आवाज के उस प्रतिकंपन से कुछ भीत-सा हो उठा।

मिस एल्किन्स कुछ चौंक कर अर्द्ध मोहावस्था में मेरे कंधे पर हाथ रखती हुई प्रायः बच्चों की तरह मुँह फुलाती हुई बोली—"नहीं ! अभी जल्दी क्या है !"

शैतान ने फिर मुँह चिढ़ाते हुए उसकी नकल उतारी—"जल्दी क्या है !"

एक क्षण के लिए मेरी आँखों के आगे जैसे अँधेरा छा गया। मेरा एक दूसरा ही व्यक्तित्व एक विचित्र भ्रान्त भावना के भँवर-जाल में चक्कर खाने लगा। पर दूसरे ही क्षण किसी अज्ञात-संरक्षिका दैवी शक्ति ने अपने वरद हस्त से मुझमें स्थिरता ला दी और अंतर्दृष्टि के आगे से कुहासा एकदम हटा दिया। मुझे अक्सर जीवन में घोर संकट की घड़ियों में इस अज्ञात दैवी शक्ति के वरद हस्त का अनुभव हुआ है, जिसने बार-बार महागर्त में पाँव फिसलने से मेरी रक्षा की है। मैंने मन-ही-मन उस शक्ति को धन्यवाद दिया।

स्थिर शांत भाव से बोला—"देखो, संध्या हो चुकी है। हम लोगों को लम्बा रास्ता तय करना है।"

मिस एल्किन्स की आँखों में एक अनोखी मार्मिक वेदना उस विषाद-मधुर संध्या की तरह ही छलक उठी।

मैं जैसे बलपूर्वक उसका हाथ खींच कर नीचे को घसीटता हुआ गया। उस लुढ़कन से शायद उसकी दबी हुई चंचल बाल-मनोवृत्ति

जग उठी और वह भावुक मोहकता बिसार कर एक किलकारी मारती हुई पहाड़ी के नीचे मेरे साथ रपटती चली गयी।

रिक्शा वाले नीचे हम लोगों की प्रतीक्षा में बैठे थे। रिक्शा पर सवार होने पर हम लोग काफी देर तक मौन रहे। जब रिक्शा अपेक्षाकृत समतल रास्ते पर आया तब सहसा मिस एल्किन्स का मौन खुला। धीमे स्वर में उदास और तनिक गंभीर स्वर में वह बोली—"अपने स्कूली जीवन में मुझे कविता से बहुत प्रेम था। जानते हो, मुझमें यह प्रेम किसने जगाया ?"

"नहीं।"

"मेरी माँ ने। माँ ने मुझे बताया था कि वह जब नवयुवती थी तब वह कविताएँ लिखा करती थी। वह ठेठ यूरोपियन है। एडिनबरा के एक बड़े अस्पताल में वह नर्स थी। उसकी इच्छा 'कविताओं के देश' भारत में भ्रमण करने की बहुत दिनों से थी। एक दिन रेडक्रास वालों के एक दल के साथ मौका पा कर वह भारत चली आयी। उसका कहना था कि यहाँ उसके दुष्ट ग्रहों ने षड्यंत्र रचना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि 'एक आवारा एँग्लो-इंडियन' से उसने शादी कर ली। मेरे जन्म के एक वर्ष बाद ही मेरे पिता की मृत्यु हो गयी थी, इसलिये मैं कह नहीं सकती कि मेरे पिता किस हद तक आवारा थे। पर माँ ने कभी उनके सम्बन्ध में एक भी अच्छा शब्द व्यवहृत नहीं किया। माँ ने दिल्ली के एक डाक-घर में नौकरी कर ली। मैंने एक कनवेन्ट में सीनियर केम्ब्रिज तक पढ़ा। उसके बाद स्टेनोग्राफरी सीख कर यहाँ आयी हूँ। माँ बीमार रहती है और घर ही पर रहती है। किसी रोज आओगे माँ से मिलने ? तुम्हें देख कर वह बहुत खुश होगी। कवियों में वह बड़ी दिलचस्पी लेती है।"

मैंने आने का वचन दिया। उसके बाद मैं रास्ते भर इधर-उधर की बातों में उसका ध्यान बटाता रहा।

...दूसरे दिन दत्त से मैंने कहा—"मुझे खेद है कि कल तुम पिकनिक में शरीक न हो सके।" वह आश्चर्य से बोला—"कैसा पिकनिक ? मुझे तो कोई सूचना नहीं थी।"

"क्या मिस एलेन ने तुमसे कुछ नहीं कहा ?"

"नहीं तो ! मैं कल दिन-भर उसी के यहाँ था।"

खोज करने पर पता चला कि मिस एल्किन्स ने वास्तव में मिस एलेन को भी कोई सूचना नहीं दी थी। मुझे अपनी बेवकूफी पर पछतावा हुआ, पर दत्त से साफ स्वीकार करना ही पड़ा कि मैं मिस एल्किन्स के साथ मशोबरा गया था। इस बात से दत्त के ऊपर मेरी धाक जम गयी। तब से वह मेरे साथ बड़े आदर से बोलने लगा। बाद में मालूम हुआ कि मिस एल्किन्स उसके 'श्रद्धा-भाव' को कई बार ठुकरा चुकी थी।

अगले इतवार को मैं मिस एल्किन्स की माँ से मिलने गया। पचास वर्ष के ऊपर की अवस्था वाली एक अधेड़ स्त्री, जिसके आधे बाल पक चुके थे, मुझसे मिली। मिस एल्किन्स ने दोनों का परिचय कराते हुए बताया कि वही उसकी माँ है।

मिसेज एल्किन्स का बरताव मेरे प्रति आरंभ ही से रूखा-रूखा-सा रहा। ऊपर से उसने शिष्टाचार में कोई कसर नहीं रखी थी। पर जब हाथ मिलाया तो बड़े ठंडे हृदय से। शायद 'नेटिव' कर-स्पर्श से अपने यूरोपियन चमड़े को उन्होंने गंदा हुआ माना। अथवा, एक दूसरा कारण उनकी रुखाई का यह अनुमानित किया जा सकता है कि चूँकि एक भारतीय से (भले ही वह एँग्लो-भारतीय) उन्हें जो कटु अनुभव हुए थे, उन्होंने उनके मन में समस्त भारतीयों के प्रति भयंकर रूप से विरोधी भाव उत्पन्न कर दिया था। कारण जो कुछ भी हो, उनसे मिल कर मैं पछताया, मिस एल्किन्स की नादानी के लिए उसे मन-ही-मन कोसने लगा।

जब मैं जाने लगा तो मिस एल्किन्स बाहर मुझे फाटक तक पहुँचाने आयी और धीरे से मेरे कान में बोली —"माँ की तबीयत ठीक नहीं है, इसलिए उसके रूखे व्यवहार का कोई अर्थ न लगाना।"

मैंने भरी हुई आवाज में कहा—"नहीं, नहीं।"

दूसरे दिन मैंने सहसा अपने प्रति मिस एल्किन्स के भाव में बहुत परिवर्तन पाया। वह भरसक जैसे मुझसे कतरा कर चलने लगी। यदि कभी सहसा दोनों एक दूसरे के निकट आमने-सामने हो जाते तो वह मेरे अभिवादन का उत्तर तक न देती और साफ कतरा कर निकल जाती। ऐसा आकस्मिक आमूल भाव-परिवर्तन जीवन में कम देखने में आता है। मैंने समझा, शायद मेरे किसी व्यवहार से असंतुष्ट है, जल्दी ही फिर अपने पुराने ढंग पर आ जायगी। पर दिन बीतते चले गए और उसके नये रूप में कण-मात्र का अंतर न आया। मैं दंग रह गया। बाद में उस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का जो एकमात्र कारण मेरे आगे प्रभासित हुआ वह यह था कि मिसेज एल्किन्स ने अपनी बेटी से ताकीद कर दी होगी कि वह किसी 'नेटिव' से तनिक भी हेल-मेल न बढ़ावे। चूँकि माँ-बेटी स्पष्ट ही एक-दूसरे को बहुत चाहती थीं, इसलिए एक के आग्रह, अनुरोध या आदेश का पालन दूसरे के लिए अनिवार्यतः मान्य था।

प्रारंभ में कुछ दिनों तक मेरी खिन्नता की सीमा न रही। बाद में मैं यह सोच कर प्रसन्न होने का प्रयत्न करने लगा कि मेरा मोह-स्वप्न जल्दी ही भंग हो गया, यह अच्छा हुआ।

एक दिन मैं शनिवार की संध्या को इच्छा न होने पर भी अपने एक मित्र के साथ 'रिंक' में पहुँच गया था। वहाँ देखता क्या हूँ कि मिस एल्किन्स एक तरुण और सुन्दर 'टामी' के साथ अत्यन्त उल्लासपूर्वक 'स्केटिंग' कर रही है और अपनी तीखी किलकारियों से सारे हाल को तीव्रता से गुँजा रही है। युवक बड़े

आराम से उसके कंधे पर हाथ रखे हुए उसे नचा रहा था। वह कभी गिरने का बहाना करती थी और कभी सचमुच गिरते-गिरते युवक की सहायता से बच जाती थी।

रिंक से वापस जाते हुए पहले तो मैंने बरबस एक लम्बी साँस ली, पर बाद में अपने असंभव और अस्वाभाविक 'रोमांस' के संपूर्ण संभव और स्वाभाविक परिणाम पर मुझे बड़े जोरों से हँसी आयी।

रात्रिचर

हाई स्कूल की परीक्षा देने के बाद मैं सैर के लिए नैनीताल चला गया था। पर वहाँ कुछ ही दिन बाद मेरा जी उचट गया। मैं घर वापस चलने की बात सोचने लगा। उन दिनों नैनीताल से अल्मोड़े तक मोटर सर्विस नहीं थी। इसलिये पैदल चलने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। एक दिन मैंने निश्चय किया कि दूसरे ही दिन तड़के चल दूँगा, जिससे संध्या तक अल्मोड़ा पहुँच जाऊँ। रास्ते में रात को कहीं ठहरना मेरे लिए बहुत असुविधाजनक इसलिये था कि मेरे पास न बिस्तर था न रात-भर का मकान-भाड़ा देने के लिये पैसे।

पर कुछ ऐसी रुकावटें आ गयीं कि दूसरे दिन सुबह रवाना होना असम्भव हो गया। न जाने क्यों, नैनीताल का वातावरण मुझे काटे खा रहा था। एक घंटा भी वहाँ अधिक रहना मेरे लिए अत्यन्त कष्टकर हो रहा था। दोपहर तक मैं अनिश्चित मानसिक अवस्था में छटपट-छटपट करता रहा। तीसरे पहर मैं रह न सका और बांज (अँगरेजी 'ओक') के पेड़ की एक कच्ची लकड़ी को अपना एकमात्र संबल बनाकर चल पड़ा।

भवाली तक उतार होने के कारण वहाँ पहुँचने तक कोई कष्ट मुझे नहीं हुआ और मेरे उत्साह में तनिक भी अन्तर न आया। पर भवाली के बाद रामगढ़ तक की विकट चढ़ाई जब सामने आयी तब मेरा सारा जोश ठंडा पड़ गया। प्रायः दो मील तक की चढ़ाई तो ऐसी लगती थी जैसे किसी खड़ी दीवार पर चढ़ रहे हों। मेरा दम फूला जा रहा था। यदि 'लाठी' या कच्ची लकड़ी टेकने को न होती

तो शायद उस दिन मेरे हृदय की गति ही रुद्ध हो गयी होती। इसका एक कारण यह था कि मेरे पास एक भी पैसा न होने से मैं रास्ते में कुछ नाश्ता तक नहीं कर पाया था।

जब चढ़ाई कुछ हलकी हुई तो एक दूसरी चिन्ता मेरे सिर पर सवार हुई। मैं सोचने लगा कि रात में कहाँ ठहरा जाय। कौन मुझे अपने यहाँ आश्रय देगा। आश्रय से भी अधिक चिन्ता मुझे अपने पेट की थी। नैनीताल में जिन सज्जन के यहाँ मैं ठहरा था वहाँ मैंने सुबह संकोचवश अति स्वल्प भोजन किया था। उसके बाद फिर दिन-भर कुछ नहीं खाया था। यात्रा की थकावट से अंजर-पंजर ढीला हो गया था और पेट में चूहे भयंकर रूप से कूद-फाँद मचा रहे थे।

रामगढ़ तक पहुँचने में अभी प्रायः पाँच मील की दूरी मुझे और तय करनी थी। रामगढ़ में भी मुझ कपर्दकहीन को आश्रय मिलने की सम्भावना केवल १ प्रतिशत थी। पर उसके पहले तो उतनी सम्भावना भी नहीं थी। इसलिए मैंने निश्चय किया कि चाहे रात ही क्यों न हो जाय, और चाहे कैसा ही कष्ट क्यों न हो, रामगढ़ तक अवश्य ही पहुँचूँगा।

सूर्य घने पहाड़ी जंगलों के पीछे अस्त होने जा रहा था। शरीर और मन की उस परिपूर्णथकित अवस्था में भी मुझे सूर्यास्त का वह दृश्य अत्यन्त प्रिय लगा। दूर कहीं से सामगान के-से विषाद-मधुर दीर्घ पहाड़ी राग में कोई किसान प्रेम-गीत गा रहा था। यह पहाड़ी राग बहुत छुटपन से मेरे मन पर—अर्थात् मेरी अन्तश्चेतना पर—एक ऐसे अज्ञात, अलौकिक जादू का सा प्रभाव डालता रहा है, जिसकी रहस्यात्मकता का ठीक-ठीक वर्णन मैं कभी कर पाऊँगा या नहीं, इसमें संदेह है। संगीत का प्रभाव प्रायः सभी व्यक्तियों पर किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ता है। मनोनुकूल संगीत सुनकर कोई भावुक व्यक्ति उल्लास का अनुभव करता है,

कोई उन्मादना का और कोई विह्वल भाव-तरंगों के संचरण का। उस्तादी संगीत सुनकर मेरी भी मानसिक स्थिति इन तीनों भाव-स्थितियों में से किसी एक से मिलती-जुलती सी ही होती है। पर किसी विजन पहाड़ी स्थान से गाया गया दीर्घ करुण राग केवल मेरे मन ही में भाव-तरंग उत्पन्न नहीं करता, बल्कि मेरे सारे व्यक्तित्व को, मेरी सारी आत्मा अथवा चेतना को ही एकदम बदल देता है। उस हालत में मैं 'मैं' नहीं रह जाता, बल्कि एक दूसरी ही—एकदम निराली—कायाकल्पीय सत्ता में बदल जाता हूँ। उस दिन भी उस एकान्ततम सांध्य वातावरण में वह राग सुनकर मेरी सारी क्षुत्पिपासा, सारी शारीरिक थकान पल में न जाने कहाँ अन्तर्हित हो गयी। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मेरी समस्त शारीरिकता ही न जाने कहाँ विलीन हो गयी—और केवल आत्मिक सत्ता शेष रह गयी, जो एक अलौकिक पुलकोन्माद की-सी अनुभूति में मग्न होकर समाधिस्थ-सी होती जा रही थी। उसी अतिचेतनावस्था में मैं एक पेड़ के नीचे लेट गया था—इसका ज्ञान मुझे बाद में हुआ। मेरी चेतना तब लौटी जब पूर्व जन्म में परिचित-सी एक अस्पष्ट आवाज मेरे कानों में पहुँची—"बाबू साहब ! यहाँ कहाँ ?"

चौंक कर मैंने देखा, अधगूँगा देवसिंह सिर पर डाक का एक थैला रखे और दाहिने हाथ से घंटीदार लंबी लाठी को 'टुन-टुन-टुनुन्' की आवाज में बजाते हुए धीरे-से चला आ रहा है। उसे देखते ही मेरा मन नाच उठा—जैसे वर्षों का बिछुड़ा हुआ प्राण-साथी मिल गया हो। मेरी रगों में बिजली की तेजी से एक अजीब स्फूर्ति दौड़ गयी। उसके कंधे पर मैंने अत्यन्त प्रेमपूर्वक हाथ रखा, जैसे निराधार बहते हुए को एक बहुत बड़ा सहारा मिल गया हो। मैंने उसे बताया कि मैं नैनीताल से आया हूँ और घर जाना चाहता हूँ। देवसिंह मुझे अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से उस स्थान पर पाकर हर्ष-गद्गद् हो उठा था।

प्रसन्नता के कारण उसकी प्रेम-भरी आँखें कुछ सजल-सी हो आयी थीं।

मैंने पूछा—"यह डाक का थैला तुम कैसे लिये हो?"

"मैं दो महीने से डाक-हरकारे का काम करने लगा हूँ। भीमताल से यह डाक लाया हूँ। रामगढ़ पहुँचाना होगा।"

मेरे मन में रह-रहकर जो प्रश्न उठ रहा था, उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का साहस मुझे नहीं हो रहा था। मैं किसी आश्रय के लिये उससे पूछना चाहता था। पर यह धड़का मन में लगा था कि यदि उसने भी स्पष्ट शब्दों में यह सूचित कर दिया कि कहीं प्रबंध कर सकने में वह असमर्थ है तो अन्तिम आशा भी बड़ी जल्दी जाती रहेगी।

इसलिये रास्ते-भर मैं केवल उसीसे सम्बन्धित विषयों पर बातें करता रहा। जब रामगढ़ का पड़ाव केवल आधा मील रह गया तब मैंने साहस बटोरकर पूछा—"रात में तुम कहाँ आराम करोगे?"

"चौकी पर।"

'चौकी' का अर्थ ठीक न समझकर मैंने पूछा—"यह चौकी कहाँ है, क्या है और कैसी है?"

"फूस की एक झोपड़ी रात में इधर-उधर से आने वाले डाक-हरकारों के ठहरने के लिये बनायी गयी है। वहीं मैं रहूँगा।"

"क्या तुम्हारे साथ मैं भी वहाँ रात बिता सकता हूँ? मेरे पास न बिस्तर है, न डाक बंगले या किसी दूसरे मकान का भाड़ा चुकाने के लिये पैसा।"

"वहाँ आप खुशी से ठहर सकते हैं, बाबू जी, कोई कुछ नहीं बोलेगा। पर आपको वहाँ बड़ी तकलीफ होगी।" तुतलाते हुए देवसिंह बोला।

"मुझे तनिक भी कष्ट नहीं होगा, तुम ले चलो।"

"तब ठीक है, जरूर चलिए।" संदेह की दृष्टि से मेरी ओर देखते

हुए, अपनी घुमावदार लम्बी लाठी को डुनडुलाते हुए देव
कहा। सेर के

जब हम लोग 'चौकी' पर पहुँचे, तब रात हो चुकी थी। कृष्णपक्ष की
अँधेरी रात थी। चारों ओर के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों में देवदारु और
के पेड़ों से ठंडी हवा हहराती हुई गरमी के मौसम में भी कलेजा कँप-
रही थी।

देवसिंह एक टीले के पास एक छोटी सी झोंपड़ी में मुझे ले गया।
फूस के एक तंग दरवाजे से पहले वह भीतर घुसा, और उसके बाद
अत्यन्त संकोच से दबा हुआ मैं। भीतर एक कोने में मिट्टी का एक
दीया टिमटिमा रहा था और तीन चूल्हे जल रहे थे। धुएँ के बादल
ऐसे घने रूप से छाये हुए थे कि आँखें खोलने का साहस नहीं होता
था, और बन्द आँखें भी एक तीखी कड़वी अनुभूति से आँसू गिराने को
विकल हो रही थीं।

मैं एक कोने में लाठी खड़ी करके वहीं पर बैठ गया और घुटनों
पर दोनों हाथों को रखकर, उनके बीच में अपराधी की तरह अपना
सिर झुकाये रहा। मुझे देखकर डाक-हरकारों में कानाफूसी होने
लगी। 'बाबू' लोगों के-से पोशाक-पहनावे वाला कोई व्यक्ति उस
झोपड़ी में कैसे पहुँच गया? सब के भीतर जैसे एक अजानित संदेह
की छाया-सी घिर आयी थी, यह मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा था। पर
अधगूंगे और अध-लँगड़े देवसिंह ने धीरे-धीरे, बड़े मीठे और प्रेम-भरे
शब्दों में उन लोगों को समझा दिया कि "वह कोई बाहर के आदमी
तो हैं नहीं, बल्कि उन्हें मेरे ही घर का आदमी समझो।"

मुझे नींद और भूख दोनों बुरी तरह सता रहे थे। भूख के निवारण
का कोई उपाय तो था नहीं, इसलिये समस्त संकोच मन पर से झाड़ कर
मैं कपड़ों सहित वहीं कोने पर, कच्ची मिट्टी के ऊपर बिछी हुई पुआल

प्रसन्न आया। ताजी सिंकी हुई मोटी-मोटी रोटियों की गंध बड़ी अच्छी लग रही थी।

बहुत थका हुआ होने पर भी भूख के कारण काफी देर तक नींद न आयी। उसके बाद कब आँखें लग गयीं, मुझे पता न रहा। प्रायः दो घंटे सोया हूँगा कि "बाबू साहब! बाबू साहब!" की आवाज से जाग उठा। आँख मलते हुए मैंने पूछा—"क्या है?" देवसिंह प्रेमपूर्ण आग्रह से बोला—"रोटी खा लीजिए!"

मुझे संकोचवश उसका आग्रह मान लेने का साहस न हुआ। मैंने टालने के इरादे से कहा—"तुम खा लो, मुझे भूख नहीं है।"

पर उसने इस बात के लिये हठ किया कि मैं कुछ चख लूँ, और साथ ही यह भी सूचित कर दिया कि एक रोटी से अधिक मेरे लिये बचा सकने की स्थिति में वह स्वयं नहीं है, क्योंकि आटा उसके पास नपा-तुला था, जो मुश्किल से केवल उसी के लिये पर्याप्त था। उसकी इस स्पष्टवादिता से मेरा भी संकोच जाता रहा और मैं उठ बैठा। उसने नमक के साथ एक मोटी रोटी—जो सम्भवतः गेहूँ और मक्के के आटे के मिश्रण से तैयार की गयी थी—मुझे दी। भोजन में जो स्वाद मैंने उस दिन पाया वैसा शायद ही फिर कभी कहीं पाया हो।

खाकर मैं फिर लेट गया। चूल्हों और चिलमों के उबक धुँए और एक विचित्र प्रकार की गर्द की गंध से सारा वातावरण आक्रांत हो रहा था। फूस की दीवार के छिद्रों से होकर ठंढी पहाड़ी हवा सिहरन—बल्कि ठिठुरन—पैदा कर रही थी। मैं जाड़े के कारण सात का अंक बन कर गुड़मुड़ाकर सोने की चेष्टा करने लगा। पर ठंडक बढ़ती चली जा रही थी और मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरी बगल ही में एक डाक-हरकारा एक शत-छिद्र युक्त काला कंबल (सम्भवतः मनुष्य के सिर के बालों से तैयार किया गया) ओढ़े हुए सो रहा था। ठंडक से बचने का और कोई चारा न देखकर मैंने उसीका एक पल्ला खींच

कर अपने शरीर का एक तिहाई भाग ढक लिया। उस तीन सेर के कंबल में प्रायः डेढ़ सेर गर्द भरी होगी। कुछ देर तक मैं छींकता-खाँसता रहा।

नींद नहीं आ रही थी, बीच-बीच में कोई नया डाक-हरकारा 'टुन-टुन-टुनुन्!' शब्द से लाठी ठनकाता हुआ चला आता था, और वहाँ बैठा हुआ कोई हरकारा एक हाथ में लालटेन, दूसरे हाथ में लाठी और सिर पर थैला लिये रात की 'ड्यूटी' पर चल देता था।

देवसिंह खाना खा चुका था और अब तीन चार संगियों के साथ आग तापता हुआ तमाखू पी रहा था। बारी-बारी से एक-एक आदमी चिलम हाथ में लेकर दम लगाता जाता था। मैं आँख बन्द किये हुए भी अनुभूति के जरिये से यह सब देख रहा था।

सहसा देवसिंह के एक संगी ने यह प्रश्न किया—"कहो देबू भैया, इस नौकरी में तुम्हें भौजी की याद कभी-कभी आती है या नहीं?"

देबू तुतलाता हुआ बोला—"यार, याद तो हर घड़ी आती है। पर किया क्या जाय! नौकरी न करूँ तो घर पर नोन-तेल का खर्चा चल ही नहीं पाता।"

मित्र एक क्षण चुप रह कर बोला—"अच्छा यह तो बताओ देबू भैया, जब पहले-पहल भौजी से तुम्हारा मिलना हुआ, तब वह मुस्कायी, या शरमायी या गुस्सा हुई?"

यह प्रश्न सुनते ही देबू भैया के हँसने के स्वर में जो तरलता आ गई उससे मैंने बिना देखे हुए भी जैसे स्पष्ट देखा कि वह प्रथम यौवन के प्रथम मिलन की स्मृति से परम-पुलकित हो उठा है और साथ ही दाँत भी निपोड़ रहा है। प्रेम-विह्वल स्वर में वह बोला—"यार, सच पूछो तो वह मुस्करायी थी...कुछ-कुछ शरमायी जरूर थी, पर वह शर्मीली मुस्कान और ज्यादा प्यारी लगती थी...।"

'देबू भैया' के भीतर भी रसिकता इस हद तक छिपी रह सकती है, इसका अनुमान मुझे नहीं था।

"ब्याह से पहले तुम्हारा पहला मिलना हुआ था या ब्याह के बाद?" गद्‌गद् स्वर में गूँगे के साथी ने पूछा। ऐसा लगता था जैसे वह प्रश्न करते हुए प्रश्न-कर्ता के मुँह में पानी भर आया हो।

"ब्याह के पहले ही उससे मेरा मिलना हो गया था। वह हमारे ही गाँव की लड़की है। तब ब्याह की बातचीत चल रही थी, पर शादी हुई नहीं थी। मैं पनचक्की में आटा पिसाकर नदी के किनारे-किनारे चलता हुआ घर को लौट रहा था। अचानक ऊपर से किसी ने हाँक लगायी—'ए... ... ... !' मैंने घूमकर देखा तो सिर पर लकड़ी का एक भारी गट्ठर लिए रुक्मा खड़ी थी...।"

"रुक्मा कौन?" एक दूसरे साथी ने पूछा।

"तुम्हारी भौजी का यही नाम है..."

"बड़ा प्यारा नाम है, सचमुच!..."

"हाँ, तब क्या हुआ?" रस-विह्वल, तरल स्वर में पहले साथी ने पूछा।

"हाँ, तो मैंने पूछा—'क्या है रुक्मा?' वह बोली—'तनिक ऊपर आकर गट्ठर नीचे उतार दो। बहुत भारी हो गया है।' मैं उसी दम उसके पास जा पहुँचा। अपना आटे का बोरा नीचे रखकर मैंने उसके सिर पर से लकड़ी का गट्ठर उतारा, उसके बाद बोला—'तुम बहुत थक गयी हो, रुक्मा, जरा बैठकर सुस्ता लो।' मेरा ऐसा कहना था कि वह एक अजीब ढंग से मुस्करायी। मैं सच कहता हूँ, यार, उसका उस ढंग से मुस्काना देखकर मेरे मन में एक अजीब बेकली समा गयी। वह एक बार मुस्कराती थी और फिर अंचल से मुँह ढाँप कर मुँह फेर लेती थी, फिर मुस्कराती थी, फिर मुँह फेर लेती थी। मैं कुछ समझा नहीं, बेवकूफों की तरह 'ही-ही!' करता रहा। पास

ही एक जंगम बाबा की टूटी हुई सूनी कुटिया थी। बाबा बहुत दिन पहले उसे छोड़कर चले गये थे। उसी के पास हम दोनों बैठ गये। वह तरह-तरह की बातें करने लगी। मुझसे ठीक से किसी बात का भी जवाब देते नहीं बनता था। अचानक सामने से एक आदमी की लाश बहती हुई दिखायी दी। मैंने कहा—'देखो, देखो, कोई मरा हुआ आदमी बहा चला जा रहा है।' वह मारे डर के 'अरे बापरे!' कहकर मुझसे सटकर बैठ गयी और मेरे कंधे पर उसने दोनों हाथ रख दिये...''

"उसके बाद?" अत्यन्त अधीरता से दूसरे साथी ने पूछा।

"मैं उसे ढाढ़स बँधाने लगा। पर वह बहुत देर तक घबरायी रही और मेरे छुड़ाने की कोशिश करने पर भी उसने मुझे नहीं छोड़ा।"

"तुम्हें उस समय कैसा लग रहा था?"

"मुझे *बड़ा ही सुख मिल रहा था, यार, मैं सच कहता हूँ।* पर मुझे घर जाने की देर हो रही थी। इसलिए मैंने लाचार होकर एक झटके से अपने को छुड़ा लिया। वह धक्के से गिरते-गिरते बची। मैंने कहा—मैं तुम्हारे गट्ठर को अधिया देता हूँ। आधा तुम उठा लो, आधा मैं ले लेता हूँ।' वह बोली—'पर यह कैसे हो सकता है, तुम्हें आटा ले जाना है। मैं पूरा ही ले चलूँगी।' बड़ी मुश्किल से मैंने उसे आधा ही बोझ ले जाने के लिए राजी किया।"

पहला साथी निराश स्वर में बोला—"तो क्या पहला मिलना केवल इतने ही पर समाप्त हो गया?"

"हाँ यार! पर मैं तभी से उसे चाहने लगा।"

"पर तुम्हारे चाहने से क्या होता है, वह तुम्हें चाहने लगी थी या नहीं?" पहले साथी ने प्रश्न किया।

गूँगे की तरफ से दूसरे साथी ने उत्तर दिया—"उसने बताया तो

कि लड़की उसे देखकर मुस्करायी, और जब लाश देखकर डर लगा तो उससे सटकर बैठ गयी, और जब बोझ को अधियाने की बात चली तो लड़की उसके ऊपर अधिक भार लादने को राजी न हुई। इन सब बातों से क्या यह जाहिर नहीं होता कि वह भी उसे पहले ही से चाहती रही है ?"

"अच्छा, यह तो बताओ कि ब्याह हो जाने के बाद से भौजी तुम्हें कितना प्यार करती है ?" पहले साथी ने पूछा।

"मेरे जान तो वह मुझे बहुत प्यार करती है। पर प्यार जताने का मौका ही उसे कहाँ मिलता है ! हमारा कुनबा बहुत बड़ा है, और मकान बहुत छोटा। दिन भर खेत में काम करने, गोड़ने, घास काटना या लकड़ियाँ बटोरने से उसे फुर्सत नहीं मिलती, शाम को थकी थकायी आती है और दो रोटियाँ खाकर माँ के पास ही एक कोने में सो जाती है। खेत में भी हमारे घर के लोगों से वह घिरी रहती है...।"

"तब क्या उससे कभी एक दिन के लिए भी एकान्त में भेंट नहीं हो पाती ?"

"होती क्यों नहीं। कभी-कभी जंगल में लकड़ी काटने के बहाने वह चली जाती है, और मुझे पहले से ही इशारे से बता जाया करती है। वहीं हम दोनों की भेंट हो जाती है। पर सभी दिन तो ऐसा संभव नहीं हो सकता !"

"घर पर एक दिन भी मिलना नहीं होता ?"

"एक दिन हुआ था। उस दिन घर के सब लोग पड़ोस के गाँव में ब्याह में गए हुए थे। हम दोनों किसी तरह न्योते को टाल गए। उस दिन जी-भर के हम दोनों के बीच बातें हुईं।"

"क्या बातें हुईं ?" पहले साथी ने पूछा। स्पष्ट ही वह यह नहीं मानता था कि गूँगे की कोई भी बात गोपनीय हो सकती है।

और वास्तव में गूँगा न तो कोई भी बात छिपाना जानता ही था और न उस समय छिपाने के 'मूड' में ही था।

वह पुलक-भरे स्वर में बोला—"प्यार की सब बात हुई। वह बार-बार अपने दोनों हाथों को मेरे दोनों कंधों पर रखती थी और बार-बार बड़े गौर से मेरी ओर देखती हुई कहती थी—'तुम्हें बहुत काम करना पड़ता है, और खाने को कुछ नहीं मिलता। इसलिए तुम सुस्त हो गये हो। इतना ज्यादा काम क्यों करते हो तुम? तुम्हारे दूसरे भाई तो इतना काम नहीं करते! तुम्हारी माँ तुम्हारे भाइयों को ज्यादा चाहती हैं—उन्हीं को छाँछ और नौनी ज्यादा दिया करती हैं। तुमसे खाने तक के लिए भी कभी चिरौरी नहीं करतीं। तुम्हारे भाइयों में से अगर कोई किसी कारण से खाना न खाना चाहे तो उसे बार-बार मनाती रहती हैं, पर तुम्हें याद होगा कि उस बार बुखार के बाद तुम इतने दुबले हो गए थे, तब भी तुम्हारी माँ ने अपने दूसरे बेटों के हिस्से का दूध घटा कर तुम्हें ज्यादा दूध देना पसन्द नहीं किया। तुम बड़े अभागे हो?' यह कहते हुए उसकी दोनों आँखों से आँसू निकल आए और उसने दोनों बाँहों से मुझे जकड़ लिया।"

जब देवसिंह अपनी पत्नी का कथन दुहरा रहा था तब श्रोताओं में सन्नाटा छा गया था। जब वह ठहर गया तब सब ने एक लम्बी साँस ली।

"रुकमा का नाम सचमुच सार्थक लगता है," दूसरे साथी ने बड़े गंभीर स्वर में कहा—"वह साक्षात् लक्ष्मी मालूम होती है। तुम अभागे नहीं हो, बल्कि बड़े भाग्यशाली हो!"

"हाँ, ठीक कह रहे हो, भैया, वह साक्षात् लक्ष्मी ही है, इसमें शक नहीं।" पुलकित स्वर में देवसिंह बोला। बोलते हुए उसके मुँह से जैसे लार टपकी पड़ रही हो, मेरे कानों को ऐसा लगता था।

"अच्छा देव भैया, यह तो बताओ कि भौजी गोरी है या साँवली?"

"एकदम मेमों की तरह गोरी है।"

"हाँ! ऐसा है? तब तो सचमुच तुम भाग्यशाली हो! रसविह्वल स्वर में पहले साथी ने कहा।

मैं लेटे-लेटे, बिना किसी का मुँह देखे ही यह स्पष्ट अनुभव कर रहा था कि श्रोताओं के मन की जीभ से लार बह कर आँखों की रसोद्वेलित सजलता के रूप में टपक रही थी।

कुछ देर तक सन्नाटा रहा। उसके बाद पहला साथी बोला—"अच्छा देवू भैया, कभी भौजी ने तुमसे यह नहीं कहा कि 'तुम गूँगे हो, और तुमसे विवाह करके मेरे माँ-बाप ने मेरा जन्म बिगाड़ दिया!' कभी गुस्से में भी उसने ऐसा नहीं कहा?"

संभवतः गूँगे की भाग्यशालिता के प्रति अकारण जलन की भावना को दबा सकने में असमर्थ होने के कारण उसके मुँह से बरबस इस तरह का प्रश्न निकल गया था।

गूँगा बोला—"उसने कभी इस तरह की बात जबान से नहीं निकाली। निकालती कैसे! मैं गूँगा हूँ तो वह भी लँगड़ी है!"

"हैं!" "क्या कहा?" "लँगड़ी है?" चारों ओर से आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा। श्रोताओं को इतनी देर तक गूँगे की प्रेम-कहानी में जो एक अपूर्व रस मिल रहा था, उसका प्याला जैसे अचानक एकदम उलट गया।

"धत्तेरे की! सारा मजा किरकिरा कर दिया!" चौथा साथी, जो इतनी देर तक तन्मय हो कर, मौन-भाव से सुन रहा था बरबस बोल उठा। कोई खिसिया कर जबरदस्ती हँसने लगा, कोई एक सुखमय रोमांटिक कहानी की ऐसी अप्रत्याशित रूप से नीरस परिणति देख कर 'फूः' शब्द मुँह से निकाल कर सारी स्थिति को मजाक में बदलने की चेष्टा करने लगा। पर देवसिंह इस प्रकार के निःश्वास-प्रश्वासों और व्यंग-बौछारों से तनिक भी भयभीत न हुआ। वह पूरे उत्साह से बोला—"पर लँगड़ी है तो क्या हुआ? काम वह मुझसे भी ज्यादा

करती है। अपने टेढ़े पाँव को इस तेजी से वह चलाती है कि बड़े-बड़े फुर्तीबाज भी हार मान जाते हैं...वह बड़ी ही भली औरत है भैया। बड़ी समझदार, और बड़ी दयावाली...उसकी याद दिला कर आज तुमने मेरे मन में बड़ी बेचैनी पैदा कर दी है। इस समय दो एक घंटा चैन से सोता, पर अब वह मुमकिन नहीं।"

देवसिंह उठ खड़ा हुआ, और एक कोने में काला कंबल तान कर लेट रहा।

कुछ देर तक फिर सन्नाटा रहा। पर फिर 'टुन टुन-टुन' शब्द ने सब की मोह निद्रा भंग कर दी। एक और डाक-हरकारे ने भीतर प्रवेश किया। उसके प्रवेश करते ही वह हरकारा उठ खड़ा हुआ जिससे सट कर और जिसके कंबल से अपने शरीर का एक-तिहाई भाग ढक कर मैं जाड़े से अपनी रक्षा किसी हद तक—कर रहा था।

मुझे अपनी बगल से सटा हुआ देख कर वह अत्यन्त खीझ भरे स्वर में बोला—"ऐं, कौन है! चल हट यहाँ से, मेरा कंबल छोड़! मुझे जाना है।"

फलतः मैं उस 'सीट' से उठ बैठा। वह आदमी कंबल बटोर कर, एक थैला सिर पर रख कर बायें हाथ में लालटेन और दाहिने हाथ में घुँघरूदार लंबी लाठी लेकर चल पड़ा।

देवसिंह ने बताया—"बाबू साहब, यदि आप रात में चलना चाहें और कल तड़के अल्मोड़ा पहुँचना चाहें तो आपका साथ हो सकता है। जो हरकारा अभी निकला है वह अल्मोड़े की तरफ जा रहा है।"

बिजली के वेग से मेरा माथा ठनका। मैंने सोचा कि नींद तो आयेगी नहीं, इसलिए यदि मैं हरकारे के साथ चल पड़ूँ तो इसमें हानि ही क्या है!

सोचते ही मैं तत्काल उठ खड़ा हुआ, और बदन की धूल झाड़ कर

और आँखें मल कर अपनी कच्ची लाठी लेकर उस निपट अंधकार में ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्ते की यात्रा के उद्देश्य से निकल पड़ा।

हरकारा बड़ी तेज चाल से चलता हुआ काफी दूर निकल गया था। उसे पकड़ने के लिए मैं भी तेज पगों से चलने का प्रयत्न करने लगा, पर रास्ते से अपरिचित होने के कारण एक स्थान पर मुँह के बल गिर पड़ा। गनीमत यह थी कि वहाँ नीचे खड्ड नहीं था। तत्काल उठकर मैं लाल-टेन की टिमटिमाती हुई बत्ती और 'ठुन-ठुन-ठुनन्!' की आवाज का अनुसरण करता हुआ बेतहाशा चलने लगा। कुछ ही देर बाद मैंने हरकारे को पकड़ लिया।

निस्तब्ध रात्रि थी। आकाश में ठीक सिर के ऊपर कन्या राशि के तारे टिमटिमा रहे थे जो मेरी कल्पना में देवर्षि द्वारा वर्णित लँगड़ी कन्या का चित्र खींच रहे थे। चारों ओर घने जंगल और बीच में सड़क। विश्वव्यापी अनंत अंधकार के बीच में पथप्रदर्शक थी एक लालटेन और निरंतर 'ठुन-ठुन-ठुनन्' का शब्द करने वाली लाठी। हरकारा भी मौन था और मैं भी।

उद्धार

गर्मी के दिन थे। संध्या को ठंढी हवा खाने के उद्देश्य से मैं कलकत्ते के प्रसिद्ध मैदान की तरफ पैदल निकल पड़ा था। कुछ देर तक निरुद्देश्य चक्कर लगाने के बाद मैं एक अपेक्षाकृत एकांत स्थान में हरी दूब पर लेट गया। सूरज डूब चुका था, पर अस्त हो चुकने के बाद भी उसकी प्रतिच्छाया नगर के धुसैले वातावरण में अपना झिलमिला प्रकाश बिखेर रही थी। मैं शिथिल मानसिक अवस्था में चित लेटा हुआ निरुद्देश्य भाव से सामने और ऊपर की ओर देख रहा था। प्रायः दो-ढाई फर्लांङ्ग की दूरी पर चौरंगी की सड़क पर निरंतर आने-जाने वाली ट्रामों और मोटरों का सम्मिलित शब्द दूर के ढोलों की तरह सुहावना लग रहा था और पहाड़ी नदी के अविरत प्रवाह से निकलने वाली घर्घर-हर-हर ध्वनि की तरह कानों में गूँज रहा था। अँधेरी छाया धीरे, बहुत धीरे, नववधू की तरह शंकित पगों से, अग्रसर होती चली जा रही थी। मैं किस ध्यान में या किस विचार में लीन था, मुझे याद नहीं है। पर इतना याद है कि मेरी आँखें प्रायः आधी मुँदी हुई थीं।

सहसा एक मानुषी छाया को अपने आगे खड़ी देख कर मेरा अलस भाव भंग हुआ और मैं उठ बैठा। एक लड़की, प्रायः २४-२५ वर्ष की लगती थी, और वेषभूषा से काफी सभ्य और सुशिक्षित लगती थी, बड़ी बेतकल्लुफी से मेरे पास आकर बैठ गयी। लड़की लम्बे कद की थी और दुबली-पतली थी। उसके गालों की हड्डियाँ बाहर को उभरी हुई थीं, और उसके मुख पर की झुर्रियाँ मैदान के उस छायांधकार में भी स्पष्ट दिखायी देती थीं। वह आँखों में चश्मा लगाए हुए

थी और उसके हाथ में एक मनी-बैग था। बैठते ही वह अँगरेजी में बोली —"देखिए मिस्टर, मैं बड़ी विपत्ति में फँस गयी हूँ, क्या आप मेरी सहायता नहीं करेंगे ?"

कलकत्ते में मैं वर्षों रहा और उस लम्बे अर्से में विचित्र से विचित्र और असाधारण से असाधारण व्यक्तियों से मेरा परिचय हुआ, पर उसके पहले चश्मा लगाने वाली और हाथ में मनीबैग लेकर घूमने वाली एक भी सभ्य और सुशिक्षित भारतीय लड़की मुझे ऐसी नहीं मिली थी जिसने रास्ते में या मैदान में मुझसे सहायता के लिए प्रार्थना की हो। यह सोच कर कि निश्चय ही कोई धूर्त नारी मुझे किसी जाल में उलझाने के उद्देश्य से आयी हुई है मैं सावधान हो गया। उसके बाद मैंने पूछा— "कहिए, आपको क्या कष्ट है ?"

"मैंने आज दिन-भर कुछ नहीं खाया है !"

मैं स्तंभित रह गया। हाथ में मनी-बैग है, तिस पर भी वह कहती है कि "मैंने दिन-भर कुछ नहीं खाया, मेरी सहायता कीजिये !" उसे धूर्त समझने पर भी मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि उसकी धूर्तता इस सीमा तक पहुँची हुई होगी।

मैंने रुखाई के साथ कहा—"आप हाथ में मनी-बैग लिए घूम रही हैं और......।"

"इसमें एक अधेला भी नहीं है, आप खोल कर देख लीजिये।" और उसने उसे खोल कर उलटा और दोनों हाथों से झाड़ना शुरू कर दिया।

"बात क्या है ? क्या किसी बदमाश ने इसमें से रुपया-पैसा निकाल लिया ?"

वह मुस्करायी या रोयी मैं कह नहीं सकता, पर एक विचित्र मुख-मुद्रा उसने बनायी यह निश्चित है। धीरे से, अत्यन्त शांत स्वर में बोली—"इसमें कुछ था ही कब, जो कोई छीन लेता !"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था। "तब इसको हाथ में लेकर घूमने की आवश्यकता ही क्या है ?" मैंने पूछा।

"यों ही !" मनी-बैग से खेलती हुई वह उदासीन भाव से बोली—"यह मेरे लिए एक पासपोर्ट है......"

"किस रूप में ?"

"इसे हाथ में लेकर चलने से मैं भले आदमियों के बीच में बिना किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न किए चल फिर सकती हूँ।"

पहेली और अधिक जटिल होती जा रही थी। मैदान पर बड़ी तेज़ी से छाने वाले अंधकार की तरह ही। "क्या वह कोई क्रान्तिकारिणी तो नहीं है ?" मेरे मन में यह प्रश्न उठा।

"संदेह किस बात का ?"मेरा कौतूहल बहुत बढ़ गया था।

"मैं भाग कर आयी हूँ।"

तब तो निश्चय ही वह क्रांतिकारिणी है, मैंने अनुमान लगाया।

"कहाँ से ?"

"एक डायन के यहाँ से, जो यहूदन है। उसके गुंडे मेरी तलाश में हैं।"

"कौन यहूदन है वह ? उससे तुम्हारा क्या संबंध रहा है ?"

वह इतमीनान से मेरे सामने बैठ गयी और अपना क़िस्सा अँगरेज़ी में सुनाने लगी:—

"मैं बहुत छोटी उम्र से उसके साथ थी। मेरे माँ-बाप के मर जाने के बाद मेरे चाचा ने कुछ ही रुपयों के लोभ से मुझे उस डायन के हाथ बेच डाला। मेरा बाप और चाचा दोनों कराची में एक जहाज में काम करते थे—इंजन में कोयला भरने का। इस डायन ने मुझे अपने पास रखा। थोड़ा पढ़ाया-लिखाया भी। उसके घर में और भी लड़कियाँ थीं। पहले मैं सोचती थी कि उस यहूदन ने अपने यहाँ अनाथालय खोल रखा है जिसमें ग़रीब और असहाय लड़कियाँ परवरिश पाती हैं। पर जब मैं

कुछ बड़ी हुई तब मेरी समझ में आने लगा कि उसने उन लड़कियों को क्यों अपने यहाँ रखा है। वह नायका का काम करती थी और उस हीन व्यवसाय से जितना भी रुपया मिलता सब स्वयं रख लेती थी और लड़कियों को एक पैसा भी नहीं देती थी। मेरा पतन कैसे हुआ यह एक लंबी कहानी है। वह डायन हम लोगों को पेट-भर भोजन भी नहीं देती थी। वह सब समय हम लोगों के साज-शृंगार पर जोर दिया करती थी, हमारे पेट की आग बुझाने पर नहीं। हम लोग चौबीसों घंटे मकान के भीतर ही घेरे रहते थे। उसने कुछ गुंडों को अपने यहाँ नौकर रख छोड़ा था जो हम लोगों पर बहुत कड़ा पहरा रखते थे और अकारण ही हमें सताते रहते थे। हम लोगों की प्रत्येक गति विधि की रिपोर्ट वे प्रतिदिन यहूदन के आगे पेश करते थे। छोटी से छोटी त्रुटि के लिए हम लोगों पर ऐसी बुरी मार पड़ती थी कि उसकी कल्पना से ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते थे। कभी यहूदन स्वयं एक कोड़े से 'अपराधिनी' को मारती थी और कभी अपने किसी गुंडे से मारने को कहती। 'अप-राधिनी' के शरीर से लज्जा का आवरण भी हटा लिया जाता और तब उसके शरीर पर तड़ाक-तड़ाक शब्द से कोड़े पड़ते। लड़की कराह उठती, जिसे सुन कर दूसरे गुंडे हँसते थे। दूसरी लड़कियाँ ऐसे अवसरों पर मारे डर के अपने कमरों में बंद हो जातीं और थर-थर काँपती हुई चुपचाप रोती रहतीं। मुझ पर भी कई बार इस तरह की मार पड़ी। पहली बार मेरा अपराध यह बताया गया कि जो आदमी मेरे पास आया था उसके साथ मैंने 'सुख-दुख' की बातें की थीं, यहूदन का कोई गुंडा जासूस छिप कर हमारी बातें सुन रहा था। मुझ पर जो निर्मम मार पड़ी उससे मैं इस कदर दहल उठी कि उसी दिन कहीं भाग निकलने की बात सोचने लगी। पर एक तो मैं अपना निश्चय पक्का नहीं कर पायी थी, दूसरे यहूदन के गुंडों की नजर बचा कर उस काल के घर से बाहर निकल सकना किसी भी तरह संभव नहीं था। दूसरी बार मेरा अपराध

यह था कि मैंने अपने साथ की एक लड़की से यह शिकायत की कि हम लोगों को खाना पेट-भर नहीं मिलता, सब समय भूख लगी रहती है, और पास में एक पैसा भी न होने से हम कुछ खरीद कर खा भी नहीं सकतीं। एक गुंडे ने यह बात भी शायद से कह दी। फिर कोड़ों की मार पड़ी। उस दिन से मेरा दिमाग इस हद तक खराब हो गया कि मैंने पाँच मंजिल ऊपर अपने कमरे की खिड़की पर से नीचे सड़क पर कूद पड़ने की कोशिश की। एक दूसरी लड़की अगर मुझे न पकड़ लेती और उसके चिल्लाने पर दूसरी लड़कियाँ अगर न आ गयी होतीं तो मैं अवश्य उसी दम कूद कर अपना खातमा कर लेती।

पर धीरे-धीरे मुझे मार सहने की आदत पड़ गयी और मैं उसे एक बहुत ही साधारण बात समझने लगी। आत्महत्या की प्रवृत्ति भी मुझमें नहीं रही और मैं उस काल के घर के भीतर ही बंद रह कर उसी में सड़-गल कर मरने का इंतजार बड़े धैर्य से करने लगी। दो-तीन लड़कियाँ मेरे सामने ही मर चुकी थीं। उनमें से दो लड़कियों की मृत्यु क्षय रोग से हुई। ज्वर की हालत में भी वह पिशाची यहूदन उन्हें अपने लिए पैसा कमाने का साधन बनाने से न चूकी और उनकी परिचर्या के लिए वह एक फानी कौड़ी भी खर्च नहीं करना चाहती थी। जब बीमारी बहुत बढ़ गयी और यहूदन ने देखा कि अब उन्हें पेर कर अधिक तेल नहीं निकाला जा सकता तब उसने उन्हें चैन से मरने के लिए छोड़ दिया। तीसरी लड़की को चेचक निकल आये थे। चेचक के दागों से उसका सारा चेहरा इस बुरी तरह से ढक गया था कि उसके जरिये से पैसा कमा सकने की कोई आशा यहूदन को न रही। इसलिए उसने उसे मकान छोड़ कर चले जाने के लिए कहा। वह लड़की काश्मीर की रहने वाली थी। वह एक मल्लाह की लड़की थी। उसका बाप श्रीनगर में अपनी एक मकाननुमा नाव रखे हुए था और गरमियों में उसे किराये पर लगा कर अपनी गुजर करता था। उसके मर जाने पर उसकी नाव बिक-बिका

गयी और उसके रिश्तेदारों ने उसका पूरा रुपया भी उसकी माँ को नहीं दिया। उसकी माँ, भाई और बहिन बड़ी मुश्किल से अपना गुजारा करने लगे। लड़की किसी एक गुंडे के बहकावे में आकर एक दिन घर से निकल पड़ी और फिर उस यहूदन के पंजे में कैसे आयी, यह मुझे नहीं मालूम। जो भी हो, जब यहूदन ने उससे निकल जाने को कहा तब उसने कहा कि वह कहीं नहीं जा सकती—कहीं भी उसके लिए जगह नहीं है। यहूदन ने गुंडों की मदद से उसे जबर्दस्ती बाहर ढकेलना शुरू किया। पहले तो वह छटपटायी, फिर बाद में गिड़गिड़ा कर बोली—'सिर्फ एक दिन के लिए मुझे इस मकान में और रहने दो! मैं कल ही चली जाऊँगी!' यहूदन ने इतनी कृपा उस पर कर दी कहा—'अगर कल नहीं जाओगी तो तुम्हें पाँचवीं मंजिल के बरामदे से नीचे फेंक दिया जायगा।' लड़की चुप रही। उसी रात प्रायः ढाइ बजे बड़ा शोर सुन कर मैं अपने कमरे से बाहर आयी। नीचे सड़क पर काफी भीड़ जमा हो गयी थी और बड़ा हल्ला मचा हुआ था। पूछने पर मालूम हुआ कि उसी काश्मीरी लड़की ने पाँचवीं मंजिल से नीचे कूद कर आत्महत्या कर ली है।

"मेरे मन में बड़ा दुख हुआ और उस डायन के प्रति भयंकर क्रोध भी मन में जगा। पर उस क्रोध को चुपचाप पी जाने के सिवा दूसरा चारा मेरे पास नहीं था।

"इस मामले को लेकर यहूदन बुरी फँस गयी थी। पर उस चंडा-लन ने कुछ तो रुपया खर्च करके और कुछ अपनी तिकड़मबाजी से अपने को बचा लिया। पर उसके बाद फिर कराँची में रहना उसने सुर-क्षित नहीं समझा। वहाँ उसकी काफी बदनामी हो चुकी थी। एक दिन वह अपना सारा टाट उठाकर और हम लोगों को साथ लेकर कलकत्ते चली आयी। कुल मिला कर हम छः लड़कियाँ और दो गुंडे उसके साथ थे। यहाँ वह बेलेजली स्ट्रीट के पास ही एक गली में रहती है।

उसके किसी रिश्तेदार ने पहले ही से उसके लिए वह मकान ठीक कर रखा था।

"कलकत्ता उसके लिए नयी जगह थी और यहाँ उसे अपने को नये ढंग से जमाना था। यहाँ आने पर आरंभ में उसका बर्ताव हम लोगों के साथ अच्छा रहा। इसके अलावा नयी जगह में उसकी व्यवस्था में कुछ ढीलापन आ गया था। इस ढीलेपन का लाभ उठा कर एक दिन मैं उसकी लम्बी कैद से छुटकारा पा कर भाग निकली। आज करीब दो हफ्ते मुझे उसके पंजे से छूटे हुए हो गए हैं। तब से मैं इधर-उधर मारी-मारी फिर रही हूँ। अपनी इज्जत को बेच कर ही मुझे रात में कभी किसी गंदे होटल में और कभी किसी चकले में शरण मिल पाती है। पर बेबसी की इस हालत में भी मुझे इस बात से भारी संतोष है कि प्रायः २० वर्ष बाद मैं उस नागन की लपेट से मुक्त हो सकी हूँ। हालाँकि यह धड़का अब भी मेरे मन में सब समय लगा रहता है कि न जाने कब, कहाँ और किस समय उसके गुंडे मुझे पकड़ लें और फिर उसी नरक में मरने के लिए यमदूतों की तरह मुझे घसीट ले चलें। मैं चाहती हूँ कि किसी भले आदमी के यहाँ मुझे शरण मिल जाय, पर कौन मेरी बात पर विश्वास करेगा और विश्वास करने पर भी कौन मुझे लेना चाहेगा? इस झूठी आशा में मैं बिना आवश्यकता के आँखों में चश्मा लगाये और हाथ में मनीबैग लिए इधर-उधर शरीफ आदमियों के बीच में टहलती रहती हूँ कि शायद कोई मेरी दर्द-भरी कहानी सुन कर पसीज जावे और ऐसी जगह मेरा ठिकाना लगा पावे जहाँ मैं इज्जत से रह सकूँ। मैं अब अधिक दिन जीऊँगी, ऐसी आशा मुझे नहीं है। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि मुझे किसी नरक-कुंड में न मरना पड़े। पर कहीं कोई ऐसा आश्रम—ऐसा ठौर-ठिकाना नहीं मिलता जहाँ मैं भले आदमियों के बीच में चैन से मर सकूँ......" उसकी आँखें भर आयी थीं और अँधेरे में भी उसके आँसू चमकते हुए दिखाई दे रहे थे।

मैं स्तब्ध भाव से उसकी कहानी सुन रहा था। मैदान से काफी दूरी पर चारों ओर बिजली की असंख्य बत्तियाँ कतारों में जल उठी थीं। दूर से जाती हुई मोटरों और ट्रामों की घर्घर ध्वनि पहाड़ी नदी के प्रमत्त प्रवाह-स्वर की तरह कानों में निरंतर गूँजती चली जा रही थी। एक क्षण के लिए भी उसकी अविरल गति और यति में, ताल और छंद में तनिक सी विराम नहीं पाया जाता था। निरवधि और निरवरोध काल-चक्र की तरह उसकी वह अखंड गतिशीलता जीवन-संघर्ष के अनेक पाटों के बीच में प्रतिपल पिसते रहने वाले नरनारियों की ओर से एकदम उदासीन थी।

मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं उस लड़की को उसके विगत जीवन के लिए किन शब्दों में सांत्वना दूँ और भविष्य के लिए क्या भरोसा दूँ। फिर तुरन्त ही मुझे याद आया कि लड़की ने कहा था उसने दो दिन से कुछ नहीं खाया है। मैंने कहा—"चलिए, आपको खाना खिला लाऊँ।" वह उठ खड़ी हुई। मैं उसे मैदान के उस पार ले गया जहाँ खोमचेवाले चाट, लैया, दालमोट, भुनी हुई मूँगफली, पापड़ आदि चीजें बेच रहे थे और उससे कहा कि वह जो भी चीज जितना भी खा सके लो, मैं पैसा दे दूँगा। वह बड़ी अधीरता से खाने लगी। कभी यह चीज माँगती और कभी वह और बड़ी जल्दी दोने को साफ कर देती थी। जब तक वह खाती रही तब तक कुछ देर के लिए समस्या टली। पर जब वह खा चुकी तब फिर वही समस्या दुगनी तीव्रता से मेरे सिर पर सवार हो गयी। यहाँ पर पाठकों की ओर से यह तर्क आसानी से पेश किया जा सकता है कि "जब तुम उसे खाना खिला चुके तब उसके बाद की 'समस्या' को सिर पर मोल लेने में तुक ही क्या था? एक आवारा लड़की, न जाने किस धूर्तता से वह तुम्हारे पास आयी थी। एक अच्छी खासी कहानी गढ़ कर तुम्हारी सहानुभूति उभाड़ कर तुम्हें न जाने किस फेर में डालना चाहती थी। उससे सीधे-सीधे कह दिया होता कि तुम अपना रास्ता नापो

और मैं अपना रास्ता देखूँ !" मैं मानता हूँ कि इस तर्क में बहुत कुछ सार है। पर एक बार आप मेरी उस समय की स्थिति की कल्पना कर के उसके अनुरूप ही तर्क करके देखें। मान लिया कि वह एक धूर्त और आवारा लड़की थी। कलकत्ते जैसे बड़े शहर में प्रतिदिन इस तरह की सैकड़ों लड़कियाँ फिरती होंगी। यह भी मान लिया कि उसने सारी कहानी गढ़ी थी और वह मुझे किसी चक्कर में डालने के फेर में थी। पर मैंने प्रत्यक्ष में यह भी तो देखा कि वह वास्तव में कितनी भूखी थी! जिस अधीरता से वह दोने पर दोना चट किये चली जाती थी उससे स्पष्ट था कि वह चाहे कितनी ही बड़ी धूर्त क्यों न हो, उसे सचमुच दिन भर कुछ भी खाना नहीं मिला है। जिस लड़की का अपना कोई निजी ठौर-ठिकाना हो (फिर चाहे वह चकला ही क्यों न हो) वह कभी भूख से इस हद तक व्याकुल नहीं हो सकती। तिस पर मैंने सोचा कि यदि उसकी कहानी के सत्य होने का संयोग एक प्रतिशत भी हो तो सब-कुछ सुन चुकने के बाद उसे एकदम धता बता देना मनुष्यता न होगी। पर धता न बताऊँ तो मैं करूँ क्या? उस रात में, उतने बड़े शहर में कहाँ उसके लिए ठिकाना खोजता फिरूँ? किसी ऐसी संस्था से मेरा परिचय नहीं था जहाँ उसे ले जाकर, सारी स्थिति को समझा कर उसके तात्कालिक आश्रय की व्यवस्था कर सकता। एक अनाथालय अवश्य ऐसा था जिसे मैं जानता था। पर उसके बारे में मैंने जिस तरह की बातें सुन रखी थीं उससे मेरा साहस नहीं होता था कि उस लड़की को वहाँ जाकर भरती कर आऊँ। पर दूसरा कोई चारा भी नहीं था, और अपने निश्चय में देर करने की गुंजाइश भी नहीं थी। मैंने सोचा कि वह अनाथालय चाहे कैसा ही बदनाम क्यों न हो, किसी होटल या चकले से तो अवश्य ही बेहतर रहेगा। पर इसके लिए भी उस लड़की से परामर्श करना आवश्यक था और उस सार्वजनिक स्थान में इस विषय पर सलाह नहीं ली

जा सकती थी। इसलिए मैं उसे फिर मैदान की ओर ले गया और वहाँ एक अपेक्षाकृत निर्जन स्थान में रुककर मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"सोहना।"

"सोहना ! सचमुच बहुत सुन्दर नाम है। अच्छा सोहना, अगर तुम किसी अनाथालय में जाकर रहने लगो तो कैसा रहेगा ? आजकल तुम जिस तरह का अनिश्चित जीवन बिता रही हो और इधर-उधर मारी-मारी फिर रही हो, उससे तो अनाथालय अच्छा ही रहेगा। कम से कम मेरा ख्याल तो यही है। तुम्हारी क्या राय है ?"

"मुझे इस पर क्या आपत्ति हो सकती है ! पर मुझे यहाँ किसी भी अनाथालय का पता मालूम नहीं है।"

"तुम इस बात की चिंता न करो, मैं तुम्हें पहुँचा दूँगा।"

"तब चलिए अभी।"

मैं उसे लेकर एक बस-स्टैंड के पास खड़ा हो गया। जब इच्छित नम्बर की 'बस' आयी तो हम दोनों उस पर चढ़ गये। रास्ते भर हम दोनों मौन बैठे रहे। उसके चेहरे पर जो एक निर्विकार उदासीनता की छाया मैंने पहले देखी थी वह अंत तक वैसी ही बनी रही। जब निर्दिष्ट स्थान के निकट 'बस' पहुँची तब हम दोनों उतर गये। वहाँ से कुछ ही दूरी पर अनाथालय था। एक गली में एक बड़े मकान के तिमंजिले पर हम लोग चढ़ गये। मैं प्रबंधक महोदय से मिला। वह अधेड़ अवस्था के एक चश्माधारी सफेदपोश सज्जन थे। मैंने उनसे सोहना का पूरा-पूरा किस्सा बताते हुए यह प्रार्थना की कि वह उसे अनाथालय में रख लें और उसकी सुरक्षा का भार व्यक्तिगत रूप से अपने ऊपर ले लें, और उसे दूसरी साधारण अनाथ लड़कियों की तरह न समझें।

"हमारे यहाँ सभी अनाथ लड़कियों के साथ समान व्यवहार किया

जाता है साहब, किसी एक के साथ कोई विशेष व्यवहार और दूसरों के साथ साधारण व्यवहार करने की प्रथा हमारे यहाँ नहीं है, यह मैं आपको स्पष्ट बता देना चाहता हूँ। आप इन्हें यहाँ रखना चाहें तो रखें, न रखना चाहें तो आपकी या इनकी इच्छा।" अत्यन्त गुरु-गंभीर वाणी में प्रबंधक महोदय ने कहा।

एक बार मेरे मुँह से यह निकलने ही जा रहा था कि—"आपके यहाँ की प्रथा से मैं भली भाँति परिचित हूँ और अमुक-अमुक के साथ आपने जैसा व्यवहार किया है वह भी मुझे मालूम है।" पर तत्काल इस विचार ने जोर मारा कि सहसा मेरे मुँह से कुछ कड़े शब्द यदि निकल आवें और मैनेजर साहब सोहना को अनाथालय में भरती करने से एकदम इन्कार कर दें तो उस रात में लड़की को लेकर एक अनाथालय से दूसरे अनाथालय में भटकते फिरने से मेरी जो दुर्गति होगी वह कल्पनातीत है। अतएव मैंने अत्यन्त नम्रता से भरा रुख पकड़ते हुए कहा—"मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपका व्यवहार सब के साथ समान है। जो भी हो, आप इनका नाम-धाम लिख कर इन्हें भरती कर लीजिए। मैं बीच-बीच में आकर इनकी खबर लेता रहूँगा।"

प्रबंधक महोदय ने अपने लिपिक से कहा कि रजिस्टर में सोहना का नाम-धाम तथा अन्य आवश्यक बातें लिख लें। सोहना और मैं दोनों अभी तक खड़े थे। प्रबंधक महोदय ने हम से बैठने को नहीं कहा था। पास में कोई खाली कुर्सी थी भी नहीं। अन्यथा मैं बिना उनकी आज्ञा के ही सोहना को बिठा देता। जो भी हो, सोहना से जो-जो प्रश्न किये गए उनका उत्तर वह शांत और उदासीन भाव से देती चली गयी। पहले उसका और उसके पिता का नाम पूछा गया। फिर उसकी उम्र पूछी गयी। फिर यह पूछा गया कि उसका विवाह अभी हुआ या नहीं। फिर यह प्रश्न किया गया कि वह कहाँ से और क्यों कलकत्ते आयी है। जब वह सब प्रश्नों का उत्तर दे चुकी तो उसके हस्ताक्षर लिए गये। सोहना

ने प्रबंधक महोदय के प्रश्नों का उत्तर टूटी-फूटी हिन्दी में दिया था। जब हस्ताक्षर रजिस्टर में अँगरेजी में किये तब उन्होंने बड़े गौर से उसकी ओर देखा। वह सम्भवतः स्वयं अँगरेजी नहीं जानते थे। मैंने स्थिति समझाते हुए कहा कि वह हिन्दी लिखना नहीं जानती।

"है तो यह हिन्दू ही न? क्रिश्चन तो नहीं है?"

सोहना के चेहरे पर एक रूखी मुस्कान झलक गयी।

"आप आश्वस्त रहें। यह हिन्दू ही है।" मैंने कहा।

"अच्छी बात है। चलिए, मैं कमरा खुलवा देता हूँ, जहाँ इसे रहना होगा।" और वह एक नौकर को बुला कर स्वयं भी उठे और हम लोगों को कमरा दिखाने ले चले। पश्चिम की ओर एकदम दाहिने कोने वाले कमरे में दरवाजे पर नीचे ताला लगा हुआ था। ताला खुलवाया गया। ऊपर की मंजिल से जो संडास नीचे चला आया था, वह कुछ टूट गया था। ऐसी विकट दुर्गंध वहाँ से आ रही थी कि मेरा सिर भिन्ना उठा। मैंने सोहना की ओर देखा। वह पूर्ववत निर्विकार खड़ी थी।

कमरा खुलने पर हम लोगों ने भीतर देखा। एक छोटा-सा कमरा था। एक किनारे पर एक छोटा-सा तख्त पड़ा हुआ था। दीवार पर दो-तीन खूँटियाँ गड़ी हुई थीं। खिड़की कहीं भी नहीं खुली थी। कमरे में ऐसी घुटन थी कि एक ही मिनट के भीतर मैं पसीने से तर हो गया।

मैंने कहा—"कमरा तो, खैर, यह ठीक है। पर यह सोएँगी कहाँ? यहाँ तो बड़ी घुटन है। छत पर या किसी खुले बरामदे में इनके सोने का प्रबन्ध नहीं हो सकता?"

"नहीं साहब! छत पर दूसरे लोग रहते हैं। वहाँ हमारा कोई अधिकार नहीं है। कोई बरामदा भी ऐसा नहीं है जैसा कि आप चाहते हैं। यहाँ सभी लोग कमरे के भीतर सोते हैं।"

"पर यहाँ कैसे संभव हो सकता है?"

इतने में सोहना बोल उठी—"मैं आराम से सो लूँगी। आप चिन्ता न करें।"

"और बिस्तर का क्या प्रबन्ध होगा?" मैंने प्रबंधक महोदय की ओर मुखातिब होकर कहा।

"एक दरी का प्रबन्ध मैं कर सकता हूँ।"

"तब इससे अधिक की जरूरत मुझे नहीं है।" सोहना बोल उठी।

कोई चारा न देखकर मैंने कहा—"अच्छी बात है। तब आप जो कुछ भी प्रबन्ध इनके लिए कर सकें, अवश्य कर दीजिये। इस समय मैं जाता हूँ। धन्यवाद! सोहना, मैं फिर मिलूँगा।" कह कर मैंने उसकी ओर हाथ जोड़े।

उसने उसी निर्विकार उदासीन भाव से हाथ जोड़कर बिना कुछ बोले मेरे अभिवादन का उत्तर दिया।

मेरे लिए घुटन और दुर्गंध के कारण अब एक क्षण भी अधिक वहाँ ठहरना असंभव हो उठा था। सोहना को भाग्य के भरोसे छोड़ कर मैं घर लौट चला।

दूसरे ही दिन से मैं सोहना को भूल-सा गया।

प्रायः एक सप्ताह बाद अचानक मुझे याद आया कि मैं एक लड़की को अनाथालय में छोड़ आया था। मेरे मन में कुतूहल—केवल कुतूहल—जगा कि लड़की अनाथालय में अपने को कहाँ तक खपा पायी है। अभी वहीं है या कहीं चली गयी है। मुझे विश्वास नहीं होता था कि वह अनाथालय के—बल्कि किसी भी—बंधन को अधिक समय तक स्वीकार कर सकेगी।

संध्या को अन्यमनस्क भाव से टहलता हुआ मैं उसी अनाथालय में जा पहुँचा। लड़की से मिलने के पहले मैं सीधे प्रबंधक महोदय के कमरे में गया। प्रबंधक महोदय आज मेरे ऊपर बड़े कृपाशील मालूम पड़े। मेरे

पहुँचते ही प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत करते हुए बोले—"आइये, विराजिये।" और सामने वाली कुर्सी की ओर उन्होंने इंगित किया।

मैं गंभीर मुद्रा बनाकर बैठ गया। किसी व्यक्ति का अप्रत्याशित प्रेम-भाव प्राप्त होने पर मैं सावधान हो उठता हूँ। यह मेरा नियम है। मैं इस प्रतीक्षा में रहा कि वह अपने उस आकस्मिक प्रेम-भाव का कारण अपने-आप ही प्रकट करेंगे। और मेरा वह अनुमान गलत न निकला।

पहले से भी अधिक सौजन्य मुख पर प्रकट करते और अत्यधिक पान खाने के कारण प्रायः सड़े हुए दाँतों की पंक्तियों को पूर्ण प्रदर्शित करते हुए प्रबंधक महोदय बोले—"आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हम सोहना देवी के विवाह की बात चला रहे हैं। बात करीब-करीब तय भी हो चुकी है......"

अकृत्रिम आश्चर्य से मैंने केवल कहा—"अच्छा?"

"जी हाँ", दाँत निपोड़ते हुए प्रबंधक महोदय बोले—"बात चलाने के पहले आपसे राय इसलिए नहीं ली जा सकी कि आपका पता हम लोगों को नहीं मालूम था......"

"मेरी राय की कोई आवश्यकता भी नहीं है। आवश्यकता है केवल सोहना की राय की। वह तो निश्चय ही सहमत होगी?"

"जी हाँ...हैं-हैं-हैं!......नहीं तो बात चल ही कैसे सकती है? हैं हैं-हैं!"

"सब ठीक है। सोहना तो इस समय यहीं होगी? मैं जरा उससे मिलना चाहता हूँ।"

"अवश्य, अवश्य! ऐ, कोई है!"

एक चपरासी आया।

"जरा देख आओ, सोहना देवी अपने कमरे ही में हैं या और कहीं गयी हुई हैं।"

चपरासी गया और थोड़ी ही देर में लौट कर बोला—"अपने ही कमरे में हैं।"

मैं उठ खड़ा हुआ। प्रबंधक महोदय भी खड़े हो गये और बोले—"कायदा तो हमारे यहाँ यह नहीं है कि कोई आदमी अनाथालय की किसी लड़की से एकान्त में बातें करे; पर आप ही चूँकि सोहना देवी को भरती कर गए हैं, इसलिए आपको मैं इस कायदे से मुक्त मानता हूँ।"

"आपकी बड़ी कृपा है," कहकर मैं सोहना के कमरे की ओर चला गया।

सोहना फर्श पर एक दरी बिछा कर बैठी हुई थी और चर्खा कात रही थी। मुझे देख कर हाथ जोड़कर उठ खड़ी हुई।

मैंने भी प्रत्याभिवादन करते हुए कहा—"आप बैठें।"

मैं नीचे बैठने जा रहा था पर सोहना ने तख्त पर बैठने के लिए आग्रह किया और वह स्वयं भी तख्त के एक सिरे पर बैठ गयी। उसके मुख पर वही निर्विकार उदासीनता पत्थर की अमिट लकीर की तरह छायी हुई थी, जो मैंने एक सप्ताह पूर्व उसे अनाथालय में भरती करते समय देखी थी।

मैंने पूछा—"यहाँ तुम्हारा जी लग तो रहा है?"

"क्यों नहीं। और अब तो जी लगने का एक विशेष कारण भी उत्पन्न हो गया है!" और वह एक विचित्र व्यंग्य-भरी मुस्कान पहली बार उसके मुख की निर्विकार भाव-छाया के ऊपर खेलती हुई दिखायी दी।

"वह क्या कारण है?" अनुमान लगाने पर भी उत्सुकता प्रकट करते हुए मैंने कहा।

"आपके मैनेजर साहब ने मेरी शादी तय कर दी है!"

"किसके साथ ? उस व्यक्ति को तुमने अपनी आँखों से देखा है ?"

"क्यों नहीं !"

"उसकी उम्र क्या होगी ?"

"यही पचपन के करीब !"

"पचपन ? और वह करता क्या है ?"

"उसने बताया कि बड़ा बाजार में उसकी पुस्तकों की एक दुकान है। उसने स्वयं भी कुछ पुस्तकें छापी हैं।"

"स्वयं अपना प्रेस है ?"

"मालूम हुआ कि वह जल्दी ही कोई प्रेस खरीदने जा रहा है।"

"तब तो निश्चय ही उसने कुछ रुपये जोड़ लिए होंगे ?"

"कम-से कम मैनेजर साहब का तो यही कहना है। उन्होंने यह भी बताया कि महाशय जी अकेले हैं, आज तक किसी का कोई दायित्व उन पर कभी नहीं रहा। इसलिए—मैनेजर साहब ने कहा—जो लड़की उनसे शादी करेगी उसका उनके घर में एक छत्र राज्य रहेगा। मैनेजर साहब मुझसे बोले—"अपने भाग्य की सराहो सोहना देवी, तुम अब रानी होने जा रही हो, रानी ! अनाथालय में जितने भी लोग शादी के लिए दर्खास्त देते हैं, वे सब चोट्टे और लोफर होते हैं। पर यह शख्स, जो तुम्हारे भाग्य से मिल बैठा है, अपनी एक खास हस्ती रखता है। सचमुच उसने बहुत रुपया जोड़ लिया है। पर वह दुखी है, इसलिए कि उसकी संपत्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। इसलिए मेरी राय है कि तुम आँख मूँद कर शादी के लिए राजी हो जाओ !"

"और तुमने अपनी रजामंदी दे दी है ?"

"हर्ज क्या है ? मेरी वर्तमान परिस्थिति में इससे अच्छा अवसर मुझे कहाँ मिल सकता था ?"

"ठीक है। मुझे यह जानकर आंतरिक प्रसन्नता हुई कि तुम प्रत्येक

परिस्थिति पर यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया करती हो। तो विवाह के लिए कौन तिथि निश्चित हुई है ?"

"आप से अधिक प्रसन्नता मैनेजर को हुई है!" फिर वही कटीला व्यंग्य।

"बड़ा भला आदमी मालूम होता है तुम्हारा मैनेजर," मैंने भी पलटे में व्यंग्योक्ति करते हुए कहा—"कितने रुपये मिले हैं उसे ?"

सोहना खिलखिला उठी। बोली—महाशय जी ने (जिनसे मेरी शादी तय हुई है) बताया है कि मैनेजर ने नक़द एक हजार रुपये उनसे माँगे हैं, जिनमें से ३०० रु० वह अनाथालय के फंड में देगा, बाकी रुपयों की न रसीद मिलेगी और न किसी फंड में ही वे जमा होंगे। पर अभी अंतिम रूप से सौदा तय नहीं हुआ है।"

"ठीक है", सहज भाव से मैंने कहा—"बिना इस चक्कर के शादी सम्भव भी तो नहीं थी।"

"यह मैं जानती हूँ। इसीलिए किसी आदर्शवाद के चक्कर में मैं पड़ना भी नहीं चाहती..."इस बार उसके मुख पर व्यंग्य का लेश भी शेष नहीं था। उसके बदले एक गाढ़ी-अँधेरी छाया घनीभूत हो आयी थी। वह कहती चली गयी—"इस समय तो मेरी यह स्थिति है कि शरीर और आत्मा को बेचकर भी कोई स्थायी आश्रय प्राप्त करने में असमर्थ हूँ। आज इस अनाथालय में हूँ तो कल उस धर्मशाला में, और परसों उस होटल में। शादी हो जाने पर कम से कम एक निश्चित स्थिति तो मुझे प्राप्त हो सकेगी !"

मैं केवल "हुम !" कह कर चुप लगा गया। वास्तव में मैं कह ही क्या सकता था !

कुछ देर तक कमरे में सन्नाटा छाया रहा। मैं उठना ही चाहता था कि सहसा एक सज्जन दरवाजे पर आ खड़े हुए। उनके सिर के बाल तीन-चौथाई पक चुके थे। उनकी अवस्था पचास और साठ के बीच में

लगती थी। पचास भी हो सकती थी और साठ भी। किश्तीनुमा सफेद टोपी, सफेद कुर्ता और धोती पहने थे। कंधे पर एक मद्रासी चदरा भी डाले हुए थे। हाथ में एक पुस्तक थी।

सोहना की आँखों के संकेत से मैं समझ गया कि यह वही सज्जन हैं जिनकी चर्चा कुछ ही समय पूर्व चल रही थी।

मैंने कहा—"आइये, आइये, महाशय जी आइये!"

सोहना नीचे बैठ गयी और महाशय जी ऊपर बैठ गये।

महाशय जी की बंदरों की सी आकृति देखकर मैंने यह अनुमान लगाया कि इतना बड़ा मूर्ख आदमी मूर्खता के इस युग में भी सहज-प्राप्य नहीं होगा। पर मूर्ख होने पर भी वह कितना बड़ा धूर्त होगा, इसका प्रमाण उसके मुस्कुराने के ढंग से और उसकी ठुड्डी की विशेष आकृति से मिल रहा था।

"कहिए महाशय जी, आप कहाँ से पधारे और कैसे पधारे?" मैंने कहा।

"मैं ठीक यही प्रश्न आप से करना चाहता था," महाशय जी बोले।

"मैं तो एक आवारा आदमी हूँ। एक दिन घूमते-फिरते मैदान में आप से (सोहना की ओर देखते हुए) भेंट हो गयी थी। मैंने ही आपको अनाथालय में भरती करवाया है!"

"हुम! यह बात है?" कह कर महाशय जी मुझे बड़े गौर से घूरने लगे, जैसे उनकी दृष्टि में मुझसे बड़ा अपराधी दूसरा कोई न हो सकता हो!

"आप बताइयें, आपका शुभागमन कैसे हुआ?"

"मेरे आने का कारण सोहना देवी को मालूम है।" यह कह कर बंदरों की तरह मुस्कराते हुए सोहना की ओर देखने लगे।

सोहना के होंठों पर एक बार व्यंग्य की हँसी बिखर गयी। उसके बाद वह टूटी-फूटी हिंदी में कुछ ढिठाई के साथ बोली—"आप क्यों आये हैं,

यह जानना कोई कठिन काम नहीं है। अनाथालय में कोई किसी लड़की की गले की फाँसी छुड़ाने नहीं आता, यह जानी हुई बात है। तभी कोई व्यक्ति यहाँ आता है जब उसे दुनिया में हलाल के लिए कोई लड़की और कहीं न मिल पायी हो......"

"हैं! हैं! यह आप क्या कहती हैं, सोहना देवी? मैं क्या हलाल... हरे राम! हरे राम! मैं कम से कम आप के मुख से इस तरह की बात सुनने की आशा नहीं करता था!"

मैंने देखा, सचमुच महाशय जी के मुख पर वेदना और ग्लानि के चिह्न अंकित हो गये थे।

पर सोहना के बहुत दिनों से रुद्ध आवेग का बाँध टूट चुका था। वह उसी तैश के साथ बोली—"हलाल नहीं तो क्या आप मेरा उद्धार करने आये हैं? क्या सचमुच आपके हृदय में मेरी दशा देख कर दया उमड़ आयी है?"

"बिलकुल यही बात है! मैं ईमानदारी से कहता हूँ, बिलकुल यही बात है!" अत्यन्त गंभीरता के साथ महाशय जी बोले।

"तब आप एक काम करें। जितना रुपया आप ब्याह में खर्च करना चाहते हैं उतना सब मुझे दे दें, और मुझे अपने घर लौट चलने दें।"

"कहाँ है आपका घर?"

"कराची!"

"पर आपको कराची भेजने से मुझे क्या लाभ होगा?"

"अब आपने पते की बात कही। आप स्पष्ट शब्दों में अपने लाभ की बात कहिए, मेरे उद्धार का ढोंग क्यों रचते हैं? सच बताइये, मुझसे पहले आप कै लड़कियों का उद्धार कर चुके हैं?"

"आपका मतलब क्या है, मैं समझा नहीं।"

"मेरा मतलब यह है कि इसके पहले आपकी कै शादियाँ हो चुकी हैं!"

"दो।"

"वे दोनों शादियाँ क्या आपने अपने समाज में की थीं ?"

"नहीं, दोनों लड़कियाँ अनाथालय ही की थीं।"

"वे दोनों अभी जीवित हैं या ?......"

"एक विवाह होने के दूसरे ही वर्ष चल बसी थी..."

"क्या हुआ था उसे ?"

"डाक्टरों ने क्षय रोग बताया था।"

"ठीक !" व्यंग्य-भरी निर्मम मुसकान मुख पर झलकाती हुई सोहना बोली—"और दूसरी को क्या हो गया था ?"

"दूसरी को कोई बीमारी नहीं हुई।"

"तो क्या उसका हार्ट फेल कर गया ?"

"नहीं, वह बदचलन औरत निकली..."

"अर्थात् ?"

"विवाह होने के बाद केवल पन्द्रह दिन वह मेरे साथ रही, उसके बाद भाग निकली। यह पिछले साल की बात है। अभी तक उसका कोई पता मुझे नहीं लगा।"

सोहना का मुख एक अकृत्रिम उल्लास की दीप्ति से चमक उठा। मैं उस समय कुछ जान न पाया कि उस उल्लास का कारण क्या हो सकता है।

"तब आप उसे बदचलन क्यों बताते हैं ? यदि वह भी आपके साथ अधिक समय तक रह कर क्षय रोग से घुल-घुल कर मरती तब वह आपकी दृष्टि में आदर्श नारी होती। यही बात है न ? उसे पहले ही पता लग गया कि इस कुठौती में आप कई असहाय नारियों की विवशता का लाभ उठा कर उनकी हत्या का व्रत लिए बैठे हैं। यही जानकर यदि वह जल्दी ही आपके नाग-फाँस से अपने को छुड़ा कर भाग निकली तो

उसने कौन बुरा किया ?" प्रायः फनफनाती हुई सोहना बोली। आज उसका एकदम नया ही रूप मेरे सामने आ रहा था।

"नहीं देवी जी, आप यह कैसी बात कर रही हैं", निरतिशय खिन्न होकर महाशय जी बोले—"आप मेरे साथ सरासर अन्याय कर रही हैं—आप... आप......"

"खैर, जाने दीजिये इन सब बातों को। आप पहले यह बताइये कि आपने मुझे अपने विवाह के जाल में फँसाने के लिए अनाथालय वालों को कितना रुपया दिया है ?"

"सात सौ रुपया, जिसमें दो सौ रुपया अनाथालय के फंड में जायगा और शेष रुपया मैनेजर साहब की जेब में। मैनेजर साहब इसी शर्त पर मेरा विवाह कराने पर राजी हुए हैं..."

"पर जिससे आप शादी करना चाहते हैं उससे आपने एक बार भी यह पूछा कि वह किन शर्तों पर शादी करने को तैयार है ?"

"जी नहीं, मैंने नहीं पूछा। मैं मानता हूँ, यह मेरी गलती थी। कहिये, आपकी खास फर्मायश क्या है ?"

"अपनी 'फर्मायश' तो मैं पहले बता चुकी हूँ—जितना रुपया आप शादी में खर्च करना चाहें उतना मुझे दे दें, उतने से मैं आसानी से अपने घर लौट सकती हूँ—कलकत्ता मैंने बहुत देख लिया है। पर अगर आप यह शर्त मानने में असमर्थ हैं तो दूसरी शर्त मेरी यह है कि मेरे लिए कम से कम तीन हजार का गहना बनवायें। गहने पहले मुझे पहनाये जायँ तब शादी हो। यदि यह शर्त भी मानने को आप तैयार नहीं हैं तो जाइये हवा खाइये।"

महाशय जी का चेहरा फक हो गया था। हकलाते हुए बोले—"वाह-वाह—यह कैसे हो सकता है ! मैं रुपया फँसा चुका हूँ। शादी तो आपको करनी ही होगी......"

"देखिए", शांत भाव से सोहना बोली—"मैं सीधी-सी बात आपको बता चुकी हूँ। या तो आप तीन हजार का गहना बनवा कर मुझे शादी से पहले पहनावें, या फिर अपना रास्ता नापें और फिर कभी मेरे पास न आवें।"

सोहना की दृढ़ता देख कर महाशय जी निरुत्तर रह गए। कुछ देर तक कमरे में एकदम सन्नाटा छाया रहा। उसके बाद महाशय जी बोले —"अच्छी बात है, तीन हजार तो नहीं, पर डेढ़-दो हजार का गहना मेरे पास है। उसे मैं आपको पहले ही पहना दूँगा—विवाह के ठीक पाँच मिनट पहले।"

महाशय जी के बाएँ हाथ में घड़ी बँधी हुई थी, इसलिए वह मिनटों का हिसाब ठीक ही रख सकेंगे, यह विश्वास मुझे हो गया।

सोहना ने कहा—"नहीं, तीन हजार से एक कौड़ी कम पर मैं बात नहीं करूँगी।"

"देखिए, अब कृपा कर के इस हद तक हठ न करें..."

"मैं जो कह चुकी हूँ उसमें फरक नहीं होगा..."

कुछ देर तक इसी प्रकार दोनों ओर से सौदा तय होता रहा। अन्त में दो हजार पर जाकर फैसला हुआ।

महाशय जी काफी देर तक बैठे रहे और मैं भी तमाशा देखने के लिए डटा रहा। अंत में जब महाशय जी विदा हुए तब सोहना मेरी ओर देख कर खिलखिला पड़ी।

मैंने कहा—"आज की घटना से मैं इस संबंध में निश्चिन्त हो गया हूँ कि तुम बिना किसी की सहायता के कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपने जीवन की गाड़ी बे-रोक-टोक चला लिए जाओगी।" और मैं हाथ जोड़ कर वहाँ से चल दिया।

बाद में एक दिन पता चला कि विवाह की बात पक्की हो चुकी है और तिथि भी निश्चित कर ली गयी थी।

मैं विवाह में शरीक नहीं हुआ था, क्योंकि मुझे किसी भी पक्ष से निमंत्रण नहीं मिला था।

× × ×

विवाह की तिथि के प्रायः एक महीने बाद महाशय जी से मेरी भेंट उन्हीं की दुकान पर हुई। उस समय दुकान में कोई ग्राहक नहीं आया हुआ था। मुझे देख कर महाशय जी ने विशेष प्रसन्नता प्रकट नहीं की। पारस्परिक अभिवादन होने और कुशल-मंगल पूछे जाने के बाद मैंने सोहना का हाल पूछा। विरस भाव से महाशय जी ने बिना किसी दुराव के मुझे बताया—"उसके ढंग कुछ अच्छे नहीं जान पड़ते हैं। मुझे लगता है कि वह जल्दी ही चंपत हो जाने के फेर में है। वह जाय, मुझे अब इस बात की अधिक चिन्ता नहीं है। पर जो दो हजार का गहना मैंने उसके लिए बनाया था उसे अभी तक वह अपने कब्जे में किए हुए है। मैं कई उपाय कर चुका हूँ उन्हें झटकने के लिए। पर वह एक ही घाघ है..."

मैंने कहा—"आप सब समय दुकान पर रहते हैं। यदि वह भागना चाहे तो उसे बड़ी सुविधा है।"

"हँ! हँ! हँ!" महाशय जी आत्मविश्वासपूर्वक हँसे। बोले—"मुझे इतना बड़ा 'वह' आप न समझें। मैंने अपना एक खास आदमी रख छोड़ा है, जो मेरी ओर से उस पर चौबीसों घंटे निगरानी रखता है। पक्का जासूस है वह! उसके रहते वह एक कदम बाहर नहीं निकल सकती, हँ! हँ! हँ!"

मुझे महाशय जी की सजग बुद्धि का थोड़ा-बहुत परिचय पहले ही मिल चुका था, इसलिए चुप हो रहा।

"पर इस लड़की ने मुझे परेशान कर डाला, साहब! सब समय कैकेयी की तरह मुँह फुलाये रहती है..."

सहसा मुझे कुतूहलवश एक प्रश्न सूझा। मैंने कहा—"अच्छा, एक बात बताइए। अगर खुदा न ख्वास्ता यह लड़की धोखा देकर चली गयी, तब आप क्या फिर किसी दूसरी लड़की की खोज करेंगे?"

"क्यों नहीं!" खोसें निपोड़ते हुए महाशय जी बोले—"पर अब की मैं धोखा नहीं खाऊँगा, यह निश्चित है। मैंने बड़ी खोज के बाद एक ऐसे अनाथालय का पता लगाया है जिसकी निगरानी स्वयं सरकार करती है। वहाँ से जो लड़की मुझे मिलेगी उससे मैं पूरी कानूनी लिखा-पढ़ी के बाद शादी करूँगा..."

महाशय जी की दूरदर्शिता पर मुग्ध होता हुआ मैं अपनी मुख-मुद्रा को बरबस गंभीर बनाने का प्रयत्न करने लगा। पर हँसी रोके नहीं रुकना चाहती थी। इसलिए मैंने हाथ जोड़ कर तत्काल विदाई ली।

प्रायः दो सप्ताह बाद जब महाशय जी से फिर भेंट करने गया तो पता चला कि वह इधर कुछ दिनों से दुकान पर नहीं आ रहे हैं। उनका एक नौकर दुकान पर था। महाशय जी की कुशल पूछने पर उसने मुस्कराते हुए बताया कि जिस आदमी को उन्होंने सोहना की निगरानी के लिए छोड़ रखा था उसी के साथ सोहना भाग गयी है—मय गहनों के, और महाशय जी हताश अवस्था में पुलिस का पल्ला पकड़े हुए हैं।

मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं महाशय जी की दशा पर तरस खाऊँ या सोहना की फुर्ती पर आश्चर्य प्रकट करूँ। मैंने अपने भाग्य को सराहा कि इस सारे कांड को लेकर मैं व्यर्थ के झमेले में पड़ने से बच गया।

कापालिक

कृष्णपक्ष की रात थी। उस दिन या तो त्रयोदशी थी या चतुर्दशी। ऊपर शरद्‌काल के निर्मल नील आकाश में असंख्य तारे दिप्-दप् करके जल रहे थे, नीचे सामने की ओर चिता की आग पूरे प्रवेग से धधक रही थी। लपटें हवा में जैसे पागल हो उठी थीं और कभी एक-दूसरे से लिपटने के लिए अधीर दिखाई देती थीं, कभी एक दूसरे को धक्का देकर सबसे ऊपर उठने की होड़ में व्यस्त जान पड़ती थीं। बीच-बीच में जलती हुई लाश से चटखने का शब्द होता था और बड़े-बड़े चिनगारे पटाखे का-सा शब्द करते हुए आतिशबाजी की तरह ऊपर को उठते थे। चिता के चारों ओर का वातावरण एकदम ज्वालामय दिखायी देता था। लगता था जैसे उस प्रज्वलित प्रकाश पुंज के परे न आकाश में न पृथ्वी में, न स्वर्ग में, न सूर्य में कहीं कुछ भी वर्तमान नहीं है। बाँई ओर, प्रायः आधे फर्लांग की दूरी पर रेल का विराट पुल इहलोक और परलोक के बीच के सेतु की तरह अपना विस्तार फैलाये हुए था।

जो लोग शव को पहुँचाने आये थे वे चारों ओर से खुले शेड के भीतर थकावट मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। कुछ तो पुआल बिछाकर चादर या कंबल तानकर लेट गये थे, कुछ बैठे हुए चुपचाप बीड़ी या सिगरेट फूँक रहे थे और कुछ तरह-तरह के विषयों की चर्चा चलाते हुए गप्पाष्टकी कला का पूरा रस ले रहे थे। एक ओर कोने में चार-पाँच सज्जन आग के पास बैठे हुए कोई एक दिलचस्प किस्सा सुनने में तल्लीन थे। कथा सुनानेवाले महाशय किसी स्थानीय दफ्तर में क्लार्क थे। वह बता रहे थे कि किस प्रकार उन्होंने एक मुर्दे के ऊपर

बैठकर तंत्र सिद्धि करनी चाही थी, और उनकी असफलता का क्या कारण रहा। मैं भी आग से कुछ दूर हटकर उनका किस्सा सुन रहा था। इतने में "जय कपालिनी !" कहता हुआ एक व्यक्ति ठीक मेरी बगल में आकर बैठ गया। वह अघजोगी सा लगता था। उसके सिर के बाल बढ़े थे और जटानुमा लगते थे। कुर्ता और धोती वह साधारण गृहस्थों की तरह ही पहने था, पर एक गेरुआ चादर उसने अपने चारों ओर लपेट रखी थी। वह आते ही मुझसे सिगरेट माँगने लगा। मैंने जेब से निकालकर उसे सिगरेट दे दी और स्वयं अपने हाथ से दियासलाई जलाकर उसकी सिगरेट भी जला दी। फिर "जय कपालिनी !" कहता हुआ वह लंबी कश लेने लगा। तंत्र-साधन का दिलचस्प किस्सा उस अघजोगी के आने से कुछ क्षणों के लिए स्थगित हो गया था। श्रोताओं ने वक्ता महोदय से जब फिर आग्रह किया कि वह जहाँ रुके थे वहाँ से आगे बढ़ें, तब उन्होंने फिर कहना आरंभ किया। किस्से की चरमावस्था तब आयी जब वक्ता महाशय ने यह बताया कि बड़ी प्रतीक्षा के बाद एक दिन उन्हें नदी के किनारे पर एक लाश पड़ी मिली। उनके 'गुरु' भी उनके साथ ही थे। गुरु ने आज्ञा दी कि तत्काल लाश को उठाकर असंख्य सीप-कणों से चमकती हुई बालू के बीच में लाकर रखा जाय और उस पर बैठकर उस मंत्र का मौन जप एकांत में ध्यानपूर्वक किया जाय जो उन्होंने अपने शिष्य को (अर्थात् वक्ता महोदय को) बताया है। दोनों गुरु-चेले लाश को तट से उठाकर बालू के बीच में ले आये और उसे सीधे लिटा दिया गया।'

वक्ता महाशय बोले—"तब मैं पूरे विश्वास और लगन के साथ लाश के ऊपर बैठ गया। आरंभ में भय या ग्लानि के भाव ने मुझे अवश्य कुछ धर दबाया था, पर जब मैं एक बार जम कर बैठ गया तब मेरे मन की सारी सिकुड़न जाती रही। कुछ देर तक मैं एकान्त मन से गुरु के बताये हुए गुप्त मंत्र का जाप करता रहा। सहसा मेरा ध्यान भंग

हुआ। मुझे लगा कि लाश हिल रही है। मैंने आँखें खोलीं। आप लोग विश्वास नहीं करेंगे, पर मैं सच कहता हूँ; मैंने अस्त होते हुए सूर्य के पीले प्रकाश में अपनी आँखों से देखा कि मुर्दे ने अपने सिर को उठाकर बाईं करवट रख दिया। मेरे रोंगटे खड़े हो आये और मैं आतंकित होकर तत्काल उठकर लाश पर से नीचे कूद पड़ा और बेतहाशा भागने लगा—किस दिशा को, इसका कोई ज्ञान उस समय मुझे नहीं था। मुझे भागते देखकर गुरु जी भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ते हुए मेरा नाम लेकर पुकारने लगे, और मुझे दिलासा देने के लिए कहने लगे—'तुम व्यर्थ में घबरा गये हो। तनिक ठहरो तो मैं तुम्हें समझाऊँ।' उनके बार-बार कहने पर मैं रुका। उन्होंने मेरे पास आकर कहा—'तुमने अपनी तंत्र-सिद्धि को स्वयं अपनी मूर्खता से ठुकरा दिया। तुम्हारे मंत्र-जाप का ही यह फल था कि मुर्दा जी उठने के लक्षण प्रकट करने लगा। पर तुमने अपनी मूर्खता से...मुझे अब विश्वास हो गया है कि तुम तंत्र-सिद्धि के लिए एकदम अयोग्य हो!' और इसके बाद उन्होंने मुझे धिक्कारते हुए एक लंबा-चौड़ा व्याख्यान मुर्दों को जिलानेवाली तांत्रिक कला के संबंध में दे डाला। उनके व्याख्यान से मैं बहुत प्रभावित हुआ, पर मेरे मन पर से भय का भूत तनिक भी न हटा। उस रात मैंने बड़े भयंकर सपने देखे। दो-एक बार मैं नींद ही में जोर से चिल्लाया भी, जिससे मेरे घरवाले जग गये। मैं कह नहीं सकता कि गुरु जी की बातों में सचाई किस हद तक थी, पर......"

सहसा अधजोगिया वेश वाला व्यक्ति बीच ही में बोल उठा—"लाश का हिलना कोई अलौकिक घटना नहीं है। लाश जब कभी वायु कम हो जाने या अन्य प्राकृतिक कारण से सिकुड़ने लगती है तब स्वभावतः वह अपने-आप हिल उठती है। पर तुम्हारे गुरु भी अधकचरे रहे होंगे, बाबा; नहीं तो कम-से-कम तुम्हारे मन से भय का भूत छुड़ाना कोई कठिन काम नहीं था।"

"कैसे ?" कुछ खीझे हुए स्वर में पूर्वोक्त वक्ता महाशय ने पूछा।

"जिस उपाय से मेरे गुरु ने मेरे मन पर से भय का भूत सदा के लिए भगा दिया।"

"वह क्या उपाय था ?" कुछ उत्सुक व्यक्ति प्रायः एक साथ बोल उठे।

"वह एक लम्बा किस्सा है। यदि आप लोग ध्यानपूर्वक सुनने को तैयार हों तो सुना दूँ।"

"अवश्य सुनाइये।"

"अच्छा तो एक सिगरेट और जला लूँ। जरा दीजिए तो।" मेरी ओर देखकर 'बाबा' बोले।

मैंने पैकेट से एक नयी सिगरेट निकालकर उन्हें दी। जली हुई सिगरेट का अंतिम अंश बाहर की ओर फेंककर उन्होंने नयी सिगरेट मुँह में लगायी। मैंने उसे जला दिया।

चिलम की तरह उसे पीते हुए बाबा ने एक बार खींचा और फिर कहना आरम्भ किया:—

मेरा जन्म काठियावाड़ के एक गाँव में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। मैं अपने माता-पिता की चौथी सतान हूँ। मुझसे बड़े दो भाई और एक बहन थी। तीनों की मृत्यु बचपन में एक ही वर्ष के भीतर ही हो गयी। एक भाई डबल न्यूमोनिया का शिकार हो गया, दूसरा चेचक से जाता रहा और बहन को हैजे की किस्म की कोई बीमारी हुई, जिससे वह दो-दिन के अन्दर चल बसी। मुझे उन तीनों की याद अच्छी तरह है। तब मेरी आयु ६ साल की रही होगी। उन तीनों की मृत्यु से घर में जो हाहाकार मच गया वह कैसा भीषण रहा होगा, इसकी कल्पना आप लोग आसानी से कर सकते हैं। मेरे भोले मन के ऊपर उन दुर्घटनाओं का बड़ा ही विकट प्रभाव पड़ा। तब मृत्यु के संबंध में कोई

स्पष्ट ज्ञान मुझे नहीं था, पर इतना तो मैं समझ ही गया था कि एक बार मर जाने से फिर कोई लौटकर घर नहीं आता। मरने वाले स्वर्ग के तारे बन जाते हैं, यह मुझे बताया गया था। मैं तब से नित्य रात में आकाश में तारों की ओर देखता रहता और बिना किसी से कुछ पूछे, स्वयं अपने ही मन से इस असंभव खोज-बीन में लग जाता कि उन असंख्य तारों में से कौन तारे मेरे भाई-बहन के प्रतिरूप हो सकते हैं। कुछ विशेष तारों के संबंध में यह कल्पना करने की इच्छा होती कि वे मेरे भाई-बहन हो सकते हैं, और अपनी उस नादान कल्पना को सत्य मानने का प्रयास करता हुआ मैं तनिक संतोष पा लेता।

पर घर के भीतर मेरा वह 'संतोष' कोई काम न देता; क्योंकि मेरी माँ प्रतिपल रोती-कलपती हुई मुझे उस कठोर सत्य की याद दिलाती और तब मृत्यु का एक अत्यन्त डरावना रूप मेरे आगे नाचने लगता। उसकी वह विकराल छाया अत्यन्त अस्पष्ट होने पर भी धीरे-धीरे मेरे मन के भीतर—बहुत गहराई में—धँसती चली जाती थी। फल यह हुआ कि उस काली छाया ने एक दिन मेरे संपूर्ण मन—बल्कि संपूर्ण आत्मा—को एकदम ग्रस लिया। मुझे उस छोटी अवस्था से ही विश्व-जीवन में सर्वत्र मृत्युमयी छाया के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता था। ऐसा लगता था जैसे मृत्यु किसी भी क्षण मुझे भी समूचा निगल सकती है। शायद इसी भय का यह फल था कि मेरे हृदय के ठीक ऊपर पसलियों में बड़ा तीखा दर्द होने लगा। उस दर्द को मैं एक प्रकार से पाले हुए था। मुझे लगता था कि वह दर्द, यदि, किसी भी समय चला जाय तो तत्काल मेरी मृत्यु हो जायगी। ऐसा मुझे क्यों लगता था यह मैं स्वयं नहीं जानता। कुछ समय तक मेरी यह हालत रही कि मैं कोई प्रत्यक्ष रोग न होने पर भी चौबीस घंटों में से प्रायः बीस घंटे लेटा ही रहता। मेरे माँ-बाप, जो तीन बच्चों-

को एक ही साल के भीतर खो चुके थे, स्वभावतः मेरी उस स्थिति से बहुत घबरा उठे। उनकी घबराहट का कोई अच्छा प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा। पर इतना मुझे स्पष्ट स्मरण है कि कोई अज्ञात प्रेरणा मृत्यु से लड़ने के लिए मुझमें शक्ति और साहस भरती चली जाती थी।

कुछ समय तक यह विकट अग्नि-परीक्षा मेरे भीतर चलती रही। अंत में मेरे मन ने किसी हद तक मृत्यु के नागपाश से तत्काल के लिए छुटकारा पाया और खुलकर साँस लेने का कुछ अवकाश मुझे मिला। पिता जी मुझे घर ही पर संस्कृत की शिक्षा देते थे। प्रारंभ में मेरी रुचि इस भाषा की ओर तनिक भी नहीं थी, पर बाद में मैं पूरे मन से उसमें दिलचस्पी लेने लगा। दो ही वर्ष के अन्दर पिता जी ने कई धार्मिक ग्रन्थ मुझे पढ़ा डाले। मैंने अपनी बुद्धि और अवस्था के अनुसार उनका अर्थ समझा। मेरी रुचि और बढ़ी और मैं स्वयं अपने प्रयत्नों से और भी बहुत-से ग्रन्थ पढ़ गया। उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन आदि सभी विषयों के अध्ययन में मैं जुट गया। पर आश्चर्य यह था कि उन में से किसी भी ग्रन्थ का कोई प्रभाव मेरे भीतरी मन पर नहीं पड़ा। मेरी ज्ञात या अज्ञात कल्पना में चारों ओर से छाये हुए मृत्यु के काले पर्दे से मेरा त्राण करने में कोई भी दर्शन शास्त्र मेरे लिए सहायक सिद्ध नहीं हुआ। कैसे उससे छुटकारा पाया जाय, इस चिंता में मैं दिन-रात व्यस्त रहने लगा। पर किसी-न-किसी उपाय से छुटकारा पाना ही होगा, यह निश्चय जैसे मेरे अंतर्मन ने कर लिया था।

फल यह हुआ कि एक दिन मैं बिना किसी से कुछ कहे-सुने गाँव छोड़कर भाग निकला। निर्मुक्त, उच्छृङ्खल और निर्द्वन्द्व जीवन बिताने की लालसा मेरे भीतर अत्यन्त बलवती हो उठी। पर गाँव से भागने पर भी मुझे बंधनों से मुक्ति नहीं मिली। चारों ओर मुझे नये-नये बंधनों का जाल फैला हुआ-सा लगने लगा। मैंने समुद्र के किनारे

कुछ मछुओं का आश्रय पकड़ लिया। उन्हीं की नाव में रहने लगा और उनके मछली मारने के कारबार में दिलचस्पी लेने का प्रयत्न करने लगा। किसी व्यवसाय में व्यस्त रहकर मैं मृत्यु की उस काली छाया को भूलना चाहता था जो सब समय मेरे जान में या अनजान में, प्रत्यक्ष में या परोक्ष में मुझे घेरे रहती थी।

प्रारंभ में मैं चुपचाप बैठा रहता और उदासीन भाव से मछुओं को मछलियाँ पकड़ते देखता रहता। पर उदासीनता चाहे किसी भी रूप में हो, मेरे लिए घातक सिद्ध होती थी, यह मैं पिछले अनुभवों से भी जान चुका था। इसलिए मैंने अपने पूर्व जीवन के समस्त विरोधी संस्कारों को बलपूर्वक झाड़ने का प्रयत्न करके मछली पकड़ने के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेने का निश्चय कर लिया। धीरे-धीरे इस पेशे में दिलचस्पी बढ़ने लगी, और एक दिन मैं पक्का मच्छीमार बन गया। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने के कारण मैंने मांस-मछली को भोजन के रूप में कभी छुआ तक नहीं था। उसकी कल्पना भी मुझे आतंकोत्पादक लगती थी। पर अब एक तो मछुओं के साथ रहकर मछली से परहेज रखने पर अपने को भूखों मारने के बराबर था, दूसरे मछलियों को पकड़ने के संबंध में मेरे मन का विरोधी संस्कार ढह जाने से उससे संलग्न दूसरे संस्कारों की ईंटें भी ढहने लगीं थीं; इसलिए धीरे-धीरे वह दिन भी आया कि मैं रोटी और चावल के साथ मछली भी खाने लगा! पहले दिन मैंने उलटी कर दी, दूसरे दिन बरबस उलटी को दबाया और तीसरे दिन स्वाभाविक रूप से मैं मछली हजम कर गया!

प्रायः एक वर्ष तक मैं मच्छीमारों के साथ रहा। उसके बाद मुझे उनका साथ भी अरुचिकर और वैचित्र्यहीन लगने लगा। फल यह हुआ कि एक दिन मैं मछुओं की ही एक नाव में बैठकर बंबई पहुँच गया। बंबई के विशाल नगर में मैंने अपने को निपट अकेला पाया। विश्व-

व्यापी मृत्यु के जो भयंकर दाढ़ बीच में कुछ समय के लिए मेरी कल्पना की ऊपरी परत के नीचे छिप गये थे वे फिर नगर के विराट भवनों का रूप धर मुझे निगलने के लिए चारों ओर से आगे बढ़ने लगे। ट्रामों और मोटरों का शब्द और त्रस्त जनता का कोलाहल जैसे मृत्यु-ग्रस्त संसार का हाहाकार था। उस त्रस्त मृत्यु-लोक में मुझे कहाँ आश्रय मिलेगा, इस चिंता से मैं भयभीत हो उठा। मुझे फटे-हाल देखकर और शायद मेरे मुख पर मृत्यु की प्रत्यक्ष छाया देखकर धर्मशालों के दरवानों ने भी मुझे बाहर ही से दुरदुरा दिया। विवश होकर पहली रात मैंने चौपाटी के खुले मैदान में बितायी। दो-तीन दिन मैंने इसी तरह बिता दिये। चौथे दिन दौड़-धूप और पूछताछ करने पर मुझे पता चला कि भूलेश्वर के पास एक विशेष वर्ग के साधुओं का अखाड़ा है, जहाँ मुफ्त में रहने और खाने का प्रबन्ध हो सकता है। मैं वहाँ पहुँचा। कुछ साधू तो बड़े ही रूखे—बल्कि अशिष्ट—रूप में मेरे साथ पेश आये, पर उनमें से दो-एक, जो (जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ) उन सबके नेता थे, बड़ी शिष्टता और नम्रता के साथ मिले और उन्होंने मेरे निवास और भोजन का पूरा प्रबंध कर दिया।

यद्यपि उस अखाड़े के सभी साधू स्पष्ट ही लट्ठवत् मूर्ख, भोजन-भट्ट और आत्मसुखाभिलाषी थे, तथापि न जाने क्यों उन सबका संसर्ग मुझे प्रिय लगा। मैंने देखा कि वे सब घर के और बाहर के सभी बंधनों से मुक्त हैं—केवल अपने पेट के बंधन को छोड़कर। और पेट का बंधन भी बहुत कष्टकर नहीं था—इसलिए कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि आराम से लेटे-लेटे पेट-भर भोजन पा जाना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। उनके उस अधिकार में विघ्न डालने वाला वास्तव में कोई था भी नहीं, क्योंकि 'भंडारे' के प्रबंध से उन्हें प्रतिदिन नियमित रूप से भरपेट भोजन मिल जाता था। मैं यह भी देख रहा था कि वे लोग समस्त विश्व को तृणवत् समझते थे और दिन-भर दिल खोलकर देश के

समस्त राजनीतिक नेताओं तथा सुधारकों को निर्द्वन्द्व और निर्भीक भाव से ऐसी-ऐसी विकट गालियाँ दिया करते थे जिन्हें सुनने पर किसी जमाने में मैं कान बंद कर लिया करता था। पर तब तक मुझे सभी प्रकार के अपशब्दों को सुनने की आदत पड़ चुकी थी। जो आदमी प्रतिपल महामृत्यु की कराल छाया से ग्रस्त हो, और समस्त जीवन में और जगत् में एकमात्र मृत्यु को ही विजयी होता हुआ देख रहा हो, उसके लिए सभी गालियाँ या आशीर्वाद के वचन, और सभी गंदे या सुखद शब्द, समान हैं। मैंने देखा कि यदि मृत्यु पर किसी ने वास्तव में विजय पायी है तो इन्हीं साधुओं ने; क्योंकि उन्हें न जीवन के संबंध में कोई चिंता है न मृत्यु के संबंध में। न अधिकाधिक सुखभोग करने की कोई आकांक्षा है, न पेट-पूजा में विघ्न पड़ने के अतिरिक्त किसी दूसरे दुःख से कोई भय।

इस अनुभूति से मेरे दृष्टिकोण में बड़ा अंतर आया और मुझ डूबते हुए को तिनके के सहारे की तरह एक संबल-सा मिला। अखाड़े के भीतर का बद्ध जीवन मुझे बहुत प्रिय लगने लगा, पर अखाड़े से बाहर एक क्षण के लिए यदि मैं निकलता तो फिर मेरे पाँवों के तले से जैसे जमीन खिसक जाती थी और फिर मैं मृत्यु के महासागर के बीच में अपने को निराधार पाता। बाहर के व्यस्त जीवन का कोलाहल जैसे समस्त जगत् के सम्मिलित हाहाकार का प्रतीक बनकर मेरे छोटे से मन में समा जाने की उतावली प्रकट करता।

कुछ महीने मैं उस अखाड़े में रहा। बाद में मेरा मन वहाँ से भी उचटने लगा था। बाहर का कोलाहल रोकने के लिए जो दीवार मैंने अपने मन की बाहरी सीमा पर खड़ी कर दी थी वह धीरे-धीरे ढहने लगी और बाहर से मृत्यु लोक का हाहाकार फिर मेरे अरक्षित मन में निरंतर उसासें भरने लगा। हमारे अखाड़े के एक साधू ने बदरीनाथ

की यात्रा का निश्चय किया। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह मुझे भी अपने साथ लेते चलें। वह संभवतः किसी साथी की तलाश में पहले ही से थे। इसलिए मेरा अनुरोध उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। एक दिन हम दोनों अखाड़े से बाहर निकल पड़े। विक्टोरिया टर्मिनस से दो तीन स्टेशन आगे तक के दो टिकट साधू बाबा ने खरीद लिए थे। उसके बाद हम दोनों नाना कूट उपायों से अपने को छिपाते और बचाते हुए बिना टिकट के यात्रा करते रहे। सहारनपुर में बाबा ने उतरने का निश्चय किया। बोले कि पहाड़ की कठिन यात्रा के पहले तनिक विश्राम कर लेना अच्छा है। मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी! इसलिए मैं भी उतर पड़ा।

बाबा अपने 'विश्राम' के लिए कोई स्थान खोजते हुए सहारनपुर जिले के ही भीतर एक कसबे में मुझे ले गए। वहाँ स्टेशन से सीधे श्मशान घाट के पास आकर ठहरे। वह एकांत वातावरण मुझे ऐसा मोहक लगा जैसे युगों से भटकता हुआ पथिक अंत में अपने घर पहुँच पाया होऊँ। एक छोटी-सी कुटिया के सामने धूनी जलाकर मनुष्य की खोपड़ियों की माला गले में लटकाये हुए, कपाल पर सिंदूर से त्रिशूल का चिन्ह अंकित किए हुए एक बाबा, जिनकी अवस्था प्रायः पचास साल की रही होगी, बैठे हुए थे। जाहिर था कि वह औघड़ बाबा थे, पर तब तक औघड़ बाबाओं के संबंध में मुझे विशेष जानकारी नहीं थी। मेरे साथवाले साधू बाबा को देखते ही औघड़ बाबा अत्यन्त गुरु गंभीर स्वर में बोल उठे—"जय मुंडमाली!" साधू बाबा ने भी उन्हीं शब्दों को दुहरा कर उनका प्रत्यभिवादन किया।

तीसरा पहर प्रायः बीतने को था। शीतकाल की साँझ, नदी का एकान्त तट, श्मशान घाट और औघड़ बाबा की वह कुटिया—सारा दृश्य मुझे अनोखा, और अपने अनोखेपन के कारण ही प्रिय, लग रहा था। पर साथ ही एक अवर्णनीय, भेदभरी अनुभूति से मेरे भीतर

कंपकँपी भी दौड़ रही थी। विशेषकर औघड़ बाबा के कपाल का त्रिशूल-चिन्ह और उनकी बगल में रखा हुआ सचमुच का त्रिशूल मेरे भीतर एक अजीब सी बेचैनी उत्पन्न कर रहा था।

मेरे साथी साधू बाबा धूनी के पास बैठ गये और मुझे भी उन्होंने नीचे मिट्टी पर ही आसन जमाने का संकेत किया। औघड़ बाबा ने चिलम में गाँजे की पत्तियाँ भर कर साधू बाबा की ओर बढ़ाई कि वह चिमटे से उसमें कोयले के जलते हुए कण रख दें, और बोले —"यह मूरत कौन है ?" उन्होंने यद्यपि बड़े प्रेम से पूछा था, पर आवाज से ऐसा लगता था जैसे कच्चा ही खा डालना चाहते हों।

साधू बाबा ने उत्तर दिया—"यह मेरे शिष्य हैं। बंबई से हम दोनों साथ ही आये हैं।"

"तो इन्हें कुछ खिलाओ। गाड़ी में तो कुछ खाया न होगा।"

साधू बाबा मुस्कराते हुए मेरी ओर ताकने लगे, क्योंकि उनके झोले में स्वयं कुछ नहीं था।

औघड़ बाबा ने मुझसे पूछा—"रस-बस कुछ पीते हो कि नहीं ?"

"काहे का रस ?"

"कपालिनी का चरणामृत, और काहे का रस हमारे यहाँ रहेगा !"

कुछ न समझते हुए भी मैंने कहा—"क्यों नहीं पीऊँगा।"

नर-कंकाल के मुंड के बने एक खप्पर पर रक्त के रंग का लाल तरल पदार्थ ढालकर औघड़ बाबा ने मेरी ओर बढ़ाया और बोले—"जय मुंडमाली !" कहकर गटक जाओ ! भूख और थकावट शान्त हो जायगी !

मैं हिचका, मेरे साथ के साधू बाबा बोले—"एक घूँट पी लो ! क्या हर्ज है !"

मैंने सोचा कि अधिक से अधिक वह शराब हो सकती है। मेरे समान सभी गार्हस्थिक और सांसारिक बंधनों से मुक्त व्यक्ति के लिए

शराब पीने में भी क्या आपत्ति हो सकती है ? पर यदि वह शराब न होकर कोई विष हो ? मैंने सुन रखा था कि औघड़ बाबा किसी मनुष्य को जान से मार डालना कोई पाप नहीं मानते। मुझे उस दिन पहली बार यह अनुभव हुआ कि मैं मरने से इस कदर डरता हूँ। मैंने साफ इनकार कर दिया।

औघड़ बाबा ने फिर एक बार गुरु गंभीर स्वर में मुझे आदेश दिया कि मैं गटक जाऊँ, पर मैंने मौन भाव से निषेध किया। मेरे साथ के साधू बाबा ने भी आग्रह किया, पर मैं विचलित न हुआ। तब साधू बाबा औघड़ बाबा के हाथ से वह मानवीय हड्डी का पान-पात्र लेकर स्वयं एक घूँट में सब पी गये।

सामने एक चिता जल रही थी--बल्कि पूरी जल चुकी थी। अर्थी के साथ आये हुए लोग आग बुझा रहे थे। लकड़ी के कुछ बड़े-बड़े कुंदे पानी में बहा दिये गये। औघड़ बाबा ने आव देखा न ताव, तत्काल पानी में कूद पड़े और उन बहते हुए कुंदों को किनारे लगाने लगे। उसके बाद उन्हें एक एक करके उठाकर धूनी के पास लाकर रखने लगे। रखते हुए बोले—"बीच में दो दिन मुर्दों का एकदम काल पड़ गया था। आज बड़ी मुश्किल से इतनी लकड़ी मिल पायी है, नहीं तो रात काटना कठिन हो जाता।"

जब सब लकड़ियाँ रख चुके तब बाबा बैठकर सुस्ताने लगे और गाँजे की चिलम हाथ में लेकर लंबी कशें लेते हुए खाँसने लगे। जब श्मशान यात्री वापस जाने लगे तब बाबा बोले—"जय मुंडमाली। बाबा, इधर भी कुछ देते जाव।"

लोग उनकी नीचे बिछी हुई चादर पर पैसे डालते चले गये। उनके चले जाने पर बाबा ने गिना तो कुल साढ़े दस आने पैसे निकले। बाबा बोले—"इतने में न तो रस ही मिल सकेगा, न कबवा मांस ही। सब साले बड़े कंजूस और नास्तिक हैं।"

सूरज डूब गया। अँधेरा होने लगा। नदी तट की ठंडी हवा के झोंके सारे शरीर को कँपाने लगे। मैं धूनी के पास और अधिक सिमट कर बैठ गया—चुपचाप मृत्पिंडवत्। मेरे साथ के साधू बाबा गाँजे पर गाँजा पीते जाते थे—संभवतः उससे उनकी प्यास और नींद जाती रही थी। इसलिए वह न तो भोजन के संबंध में कोई चिंता प्रकट कर रहे थे न रात में सोने के लिए स्थान का प्रबन्ध करने की ही कोई फिक्र उन्हें थी। यह स्पष्ट था कि औघड़ बाबा की कुटिया के भीतर एक से अधिक व्यक्ति के लेटने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

मैं चिंतित हो रहा था, पर बोला कुछ भी नहीं। इसका एक कारण यह भी था कि जो एक नया अनुभव उस वातावरण में मुझे हो रहा था उसका पूरा रस मैं लेना चाहता था। धीरे-धीरे चारों ओर अँधेरा छा गया और केवल नदी के कल-कल छल-छल शब्द के अतिरिक्त सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। चाँदनी रात थी। शुक्लपक्ष की सप्तमी या अष्टमी रही होगी। चन्द्रमा सफेद बादलों से ढका था, पर प्रकाश काफी था। सहसा दूर कहीं से सियार विकट शब्द में चीत्कार कर उठे। औघड़ बाबा न मालूम क्या सोचकर चौकन्ना हो गये। प्रायः दस मिनट बीते होंगे कि औघड़ बाबा उचककर खड़े हो गये और पलक मारने भर की देर न हुई होगी कि वह पानी में कूद पड़े। मैं भी कुतूहलवश खड़ा हो गया। अस्पष्ट प्रकाश में मैंने देखा कि बाबा किसी जीव से जैसे जूझ रहे हैं। "कहीं वह घड़ियाल तो नहीं है?" मैंने भयभीत होकर अपने मन में सोचा। साधू बाबा निश्चिंत भाव से गाँजे की एक नयी चिलम चढ़ाये हुए थे। मैंने डरते हुए उनसे पूछा—"औघड़ बाबा किससे जूझ रहे हैं?"

"होगी कोई कहास-वहास!" अत्यन्त उदासीन भाव से बाबा ने उत्तर दिया।

लाश ? सुनकर क्षण-भर के लिए मैं सन्न रह गया। मुझे याद आया कि औघड़ बाबा लोग नर-मांस भक्षण भी किया करते हैं। इसके बाद मैंने मारे भय के और कोई प्रश्न नहीं किया।

थोड़ी देर बाद क्या देखता हूँ कि औघड़ बाबा वास्तव में एक लाश को दोनों हाथों से ढकेलते हुए किनारे की ओर लिए चले आ रहे हैं। मैं सन्न खड़ा था, जैसे काठ मार गया हो। हालाँकि मेरा दायाँ पाँव बरबस थरथर काँप रहा था।

लाश को किनारे पर लगाकर बाबा उसे घसीट कर धूनी के पास ले आये। उसके बाद उन्होंने भीतर से एक छुरा लेकर लाश की दाहिनी टाँग बड़ी सफाई से काटकर चीर डाली—ठीक जिस प्रकार बूचड़ बकरे की टाँग चीरता है। कटी हुई टाँग को उन्होंने धूनी के ऊपर भूनने के लिए रख दिया। मैं सोच रहा था कि साधू बाबा यह दृश्य देखकर अबकी अवश्य ही चकित होंगे, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ वह उसी उदासीन भाव से चुपचाप गाँजा पीते चले गये। मैं बहुत देर से खड़ा था और धूनी के पास बैठने का साहस ही मुझे नहीं होता था। साधू बाबा का ध्यान जब मेरी ओर गया तब वह बोले—"खड़े क्यों हो, बैठते क्यों नहीं ?"

औघड़ बाबा भी मुख पर अपूर्व प्रसन्नता का भाव झलकाते हुए बोले—"अब चिंता क्या है ! बैठो ! अब तो कपालिनी की कृपा से अचानक कहीं से प्रसाद आकर किनारे लगा है। आज बहुत दिनों बाद देवी को भोग लगाने की सुविधा हो पायी है। बैठो, तुम बड़े भाग्यशाली हो।"

मैं बैठता क्या ! मेरे सारे शरीर का एक-एक रोआँ सुई की तरह खड़ा हो गया था। तिस पर नर-मांस के भुने जाने की जो उत्कट गंध आ रही थी वह अत्यन्त असहनीय थी। मैं कुछ दूर पीछे हटकर खड़ा हो गया।

इस बार साधू बाबा कुछ खीझ-भरे स्वर में बोले—"क्या पागल हुए हो? कब तक सर्दी में खड़े रहोगे? आओ बैठो धूनी के पास!"

मैं जाकर बैठना चाहता था, पर पाँव नहीं सरक रहे थे। साधू बाबा स्वयं उठ खड़े हुए! बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़ मुझे खींच ले गये, और एक झटके से उन्होंने मुझे नीचे बिठा दिया। मैं लाचार होकर कपड़े से अपनी नाक बंद किये बलि के बकरे की तरह बैठा रहा।

औघड़ बाबा ने एक बोतल से फिर एक बार दो खोपड़ियों में लाल 'रस' ढाला एक खोपड़ी साधू की ओर बढ़ायी और दूसरी फिर एक बार मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले—"लो, इसमें सब रात कट जायगी। बड़ी सर्दी है।"

साधू बाबा भी बोले—"ले लो! अब अधिक नाह-नूह इसमें न करो!"

पल-भर में न जाने मेरे मस्तिष्क के भीतर क्या बिजली झलकी। शायद उस असाधारण वातावरण का ही वह प्रभाव रहा हो। मैंने तत्काल हाथ बढ़ा दिया और खोपड़ी अपने मुँह से लगा ली।

"जय मुंडमाली!" औघड़ बाबा परम प्रसन्न होकर बोल उठे। "तनिक जल भी इसमें मिला लो। तुम शायद पहले से आदी नहीं हो।" यह कहकर उन्होंने अपने कमंडलु से थोड़ा सा पानी मेरे हाथ-वाली खोपड़ी में डाल दिया।

"अब थोड़ा थोड़ा करके पीते जाओ। एक साथ न गटकना!"

मैं उन्हीं की आज्ञा का पालन करने लगा। औघड़ बाबा ने एक-दूसरी खोपड़ी में अपने लिए भी 'रस' ढाला और साधू बाबा की तरह ही एक ही घूंट में गटक गये।

मैं धीरे धीरे पी रहा था। दो-तीन घूँटें ले चुकने के बाद मुझे अपने खिन्न और उदास मन के भीतर एक अजीब-सी स्फूर्ति का अनुभव होने

लगा, और मन और मस्तिष्क ऐसी दुनिया को पहुँच गये जहाँ से किसी भी असाधारण अथवा अलौकिक घटना से भी आश्चर्य होने का कोई कारण नहीं रह जाता।

टाँग धूनी पर चट-चट शब्द करने लगी थी। औघड़ बाबा उसे उलटते-पुलटते चले जा रहे थे। कुछ देर बाद उन्होंने उसे धूनी पर से उतारकर नीचे मिट्टी पर ठंडा होने के लिए रख दिया। भीतर से एक कुल्हिया उठा लाया। उसमें नमक और मिर्च पिसा हुआ रखा था। छुरे से बड़े बड़े टुकड़े भुनी हुई टाँग से काट-काटकर वह उदार भाव से फेकने लगे और एक-एक पत्ते में नमक मिर्च देकर बोले—"भोग लगाओ!"

मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा था कि अभी कुछ ही समय पहले तक जिस उत्कट अरुचि की भावना से मेरा सारा तन-मन सिकुड़ गया था, वह लाल 'रस' की दो-एक घूँटें पीते ही न जाने कपूर की तरह कहाँ विलीन हो गयी थी। पर यह सब होने पर भी 'भोग' लगाने का साहस मुझे तनिक भी नहीं हुआ।

पर मैंने चकित होकर देखा साधू बाबा परम तृप्ति से भुने हुए टुकड़े को नमक के साथ मिलाकर 'भोग' लगा रहे हैं। बम्बई में उनके इस रूप का तनिक भी आभास मुझे नहीं मिला था!

जब साधू बाबा काफी 'भोग' लगा चुके तब अत्यन्त गंभीर भाव से मुझसे बोले—"मैं जानता हूँ तुम्हारी हिचक कहाँ पर है। पर एक बात मैं आज अंतिम रूप से तुम्हें बता देना चाहता हूँ। तुम्हें याद होगा, तुमने एक दिन मुझसे अपने मन के भय और सब समय अपने मन के चारों ओर मँडराने वाली मृत्यु की छाया का जिक्र किया था, और यह भी बताया था कि उसी छाया से मुक्ति पाने के उद्देश्य से तुम घर से भाग निकले हो, और इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे हो। याद रखो कि आज तुम्हें जो सुअवसर मिला है, उसका पूरा लाभ यदि तुम उठा

सको तो चिरकाल के लिए तुम मृत्यु की छाप से छुटकारा पा जाओगे, और मौत के ऊपर सदा के लिए विजय पा जाओगे। और यदि आज तुम चूक गये तो यह छाया फिर तुम्हारी मृत्यु के बाद भी छूट पायेगी या नहीं इसमें संदेह है। तुम एक बार एकांत मन से, ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करो कि तुम्हारे भीतर के भय का मूल कारण क्या है! तुमने मुझे बताया था कि एक ही साल के भीतर तुम्हारे दो भाइयों और एक बहन की मृत्यु हो गयी थी, और उस घटना का बड़ा जबर्दस्त प्रभाव तुम पर पड़ा था। अर्थात् मृत-मनुष्यों ने तुम्हारे प्राणों के भीतर आतंक की भावना भर दी। यदि तुम्हें यह विश्वास हो जाय कि मनुष्य की मृत्यु एक अत्यन्त साधारण घटना है और मृत मनुष्य में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं रह जाती जो वास्तव में भय उपजाने में समर्थ हो, तो तुम्हारे मन से मृत्यु के भय का भूत सदा के लिए भग जाय। इसी विश्वास के साथ तुम इस मरे हुए मनुष्य के भुने हुए मांस को खा जाओ। तुम्हारे भय का मूल कारण मनुष्य का जो यह मिट्टी का शरीर है वह जब रुचिकर भोजन के रूप में तुम्हारे पेट के भीतर चला जायगा तब तुम निश्चित रूप से मृत्यु पर विजय पा जाओगे—अर्थात् तब मृत्यु तुम्हारे भोजन की—तुम्हारे प्राण-धारण की—एक साधारण सामग्री के अतिरिक्त और कुछ न रह जायगी। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस परम तथ्य से तब तुम भली-भाँति परिचित होकर मृत्युंजय कपाली के साथ एकान्त होकर विचरने लगोगे!"

मैं इसके पहले स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि मेरे साथी भोले भाले साधू बाबा इस प्रकार का मार्मिक रूप से प्रभावोत्पादक भाषण देने में समर्थ होंगे। और किसी दूसरे अवसर पर शायद इस भाषण का कोई भी विशेष प्रभाव मेरे मन पर न पड़ता पर श्मशान की उस एकांत रात्रि में, और उस विशेष वातावरण और विशेष ही मानसिक अवस्था में, उनका एक-एक वाक्य जैसे किसी अलौकिक मंत्र-बल से मेरे

मन के—मेरी सारी आत्मा के—अणु-अणु में समा गया। मुझे लगा कि सचमुच में इतने दिनों तक अन्धा बना हुआ था और आज गुरु ने एक दिव्य अंजन से मेरी भीतरी आँखें खोल दीं। 'रस' की एक घूंट और लेकर उल्लास पूर्वक 'जय कपाली !' बोलते हुए मैं भुने हुए नर-मांस का एक टुकड़ा लेकर नमक के साथ उसे मिलाकर परम तृप्ति से चबा-चबाकर खाने लगा ! वैसा स्वाद मैंने कभी जीवन में किसी दूसरे भोजन में नहीं पाया था।

और सबसे बड़ी बात यह है कि उस दिन से सचमुच मेरे मन से मृत्यु के भय का भूत सदा के लिए भाग गया ! तब से मैं न जाने कितने श्मशानों में निवास कर चुका हूँ और कई रातें वहाँ अकेले बिता चुका हूँ, न जाने कितनी लाशों से मांस काट-काटकर भून-भूनकर मैंने खाया है !

× × ×

हम सब लोग स्तब्ध भाव से अघजोगिया वेशवाले उस अजनबी व्यक्ति का किस्सा सुन रहे थे। उसकी कथा जब समाप्त सी लगी तब हम में से एक व्यक्ति स्तब्धता को भंग करता हुआ प्रश्न उठा —"क्या अब भी आप नर-मांस खाया करते हैं ?"

"अब तो मैंने छोड़ दिया है—हालाँकि परहेज अब भी नहीं है। मुझे कभी इस बात की ग्लानि नहीं हुई—एक दिन के—बल्कि एक क्षण के लिए भी—नहीं। पर अब मैंने ज्ञान के दूसरे पहलू का भी अध्ययन किया है, और कपालिनी के दूसरे—अत्यन्त व्यापक और महत्—रूप का भी थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त हुआ है। मैं अब समझ गया, हूँ कि नर-मुंडों से निर्मम रूप से खेलने वाली कपालिनी सृष्टि और स्थिति के बीच में अपने मंगलमय, करुणामय, सुभग और प्रेममय रूप में विश्व के कण-कण में घुली-मिली रहती है।"

इतना कहकर अधजोगिया वेषी बाबा ने अधमुँदी आँखों से ऊपर की ओर हाथ जोड़कर यह मंत्र पढ़ा—

जयंती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तुते ।

और फिर सहसा वहाँ से उठकर चल दिये । पुल के ऊपर सामने की ओर से बड़ी बड़ी प्रकाशमयी आँखें चमकाती हुई रेलगाड़ी बड़े वेग से घहराती हुई चली आ रही थी—जैसे कपालिनी की ही तरह अट्टहास कर रही हो ।

पागल की सफाई

नारायण भैया का वह तूफानी रूप जब मैंने पहले पहल देखा तब मैं यह कल्पना ही नहीं कर पाया कि वह वही नारायण भैया हैं जिनके विनोद-प्रिय स्वभाव से मैं बचपन से परिचित था। उम्र में वह मुझसे दर्जनों वर्ष बड़े थे। पर अपनी सहृदयता के कारण वह छोटे बच्चों के बीच में उतने ही लोकप्रिय थे जितने सयानों के बीच में। मुझे याद है कि जब बसंत पंचमी के बाद मे हमारे छोटे शहर में जगह-जगह होली से संबंधित संगीत-मंडलियाँ बैठा करती थीं तब मैं और मेरे ही वय के दूसरे छोटे-छोटे बच्चे दर्शक की हैसियत से उनमें प्रवेश पाने के लिये कितने उत्सुक रहा करते थे। पर वयस्क दर्शक और संगीतज्ञों को हम लोगों की उपस्थिति अक्सर असह्य हो उठती थी और वे लोग हमें दुत्कार कर बाहर निकल जाने को कहते थे। बच्चों को भी किसी आनंदोत्सव में सम्मिलित होने का कोई अधिकार है, इसे हमारे यहाँ की वयस्क मंडली मानने को तैयार न थी। हम लोग अत्यंत करुण और दीन दृष्टि से याचना करते थे कि हमें भी एक कोने में चुपचाप बैठे रहने और अपनी समर्थता के अनुसार संगीत का उपभोग करने दिया जाय। पर किसी का भी हृदय हमारी उस दयनीय और मूक प्रार्थना से नहीं पिघलता था—केवल एक व्यक्ति को छोड़ कर। और वह अपवाद-स्वरूप व्यक्ति थे हमारे वही नारायण भैया। वह अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके बच्चों को बैठे रहने के लिए कहते थे और दुतकारने वालों का मुँह बंद कर देते थे। क्योंकि वह स्वयं होली संबंधी संगीत मंडलियों के विशेष 'आर्गेनाइजर' होने के अतिरिक्त,

और अपनी सारी विनोदप्रियता के बावजूद, भारी दबंग आदमी थे, और उनकी बात के विरुद्ध चलने का साहस किसी में नहीं था।

मेरे प्रति नारायण भैया बराबर विशेष कृपालु रहते थे; जब कभी कहीं होली की कोई बैठक होती थी तब मुझे देखते ही वह अपने पास बुला लेते थे। उनकी कृपा से मुझे दावत में सयानों के बराबर ही हिस्सा मिलता था। दूसरे बच्चों की तरह केवल आधे लड्डू और आधी बर्फ़ी तक ही मेरा भाग (और भाग्य भी) सीमित नहीं रहता था।

होली के कुछ समय पहले से लेकर धुलेंड़ी तक नारायण भैया केवल संगीत की बैठकों में ही भाग नहीं लेते थे, बल्कि रंग में मस्त जन-साधारण की टोली जब बाहर निकलती थी तब उसमें सम्मिलित होकर वह मस्तानी अदा में झूमते रहते थे। विविध रंगों में तर कपड़े पहने हुए और अबीर और गुलाल में पुते हुए मुखों से बंदरों की सी चेष्टाएँ करते हुए जब प्रोलेतेरियत श्रेणी का रंगप्रिय जन-समूह जलूस बाँधकर चला जाता था तब नारायण भैया उसका नायकत्व करते हुए कोरस में मस्ताना राग गाते हुए चले जाते थे। अक्सर वह अपने घर होली के खिलाड़ियों और गवैयों को दावतें दिया करते थे। ऐसे अवसरों पर बहुत बड़ी भीड़ उनके यहाँ जमा हो जाती थी—क्योंकि होली-निमंत्रण लिखित रूप से विशिष्ट व्यक्तियों को दिये जाने की प्रथा के वह विरोधी थे। समूह के समूह को वह जबानी निमन्त्रण दे दिया करते थे और सब को अच्छी तरह खिलाते पिलाते थे। क्या मजाल कि एक भी व्यक्ति बिना खाये-पिये उनके यहाँ से चला जाय।

नारायण भैया केवल होली की मंडलियों के ही मुखिया नहीं थे, बल्कि सभी सामाजिक समारोहों के अवसर पर उन्हें संचालक अथवा प्रबंधक अथवा नायक के रूप में पाया जाता था। साधारण अवसरों पर भी वह अपने चारों ओर एक अच्छा खासा मजमा जोड़ लेते थे और तरह-तरह की विनोद भरी बातों और रोचक दृष्टांतों द्वारा लोगों को

जीवन और जगत के संबंध में उपदेश देते रहते थे। सारे शहर में ऐसा व्यक्ति दूसरा नहीं था जो प्रोलेतेरियत समाज में भी उतना ही जनप्रिय था जितना बूर्ज़ुवा समाज में, जिसे बुड्ढे भी उतना ही मानते थे जितना बच्चे। मैं उनकी प्रत्येक कार्रवाई और प्रत्येक बात में दिलचस्पी लेता था। इसका एक कारण यह अवश्य था कि वह, जैसा कि मैं बता चुका हूँ, मेरे प्रति विशेष दयालु थे। पर यदि मेरे प्रति उनकी विशेष कृपा न होती, तो भी उनके प्रति मेरी दिलचस्पी तनिक भी कम न होती यह निश्चित है। बात-बात में वह विनोद-भरी बातों की ऐसी फुलझड़ियाँ छोड़ते रहते थे कि श्रोताओं के हास्य का ताँता टूटता ही न था। पर उन फुलझड़ियों के साथ-साथ उनकी पटाखेबाजी भी खूब चलती थी। ऐसे व्यंग-भरे विस्फोट उनके मुँह से बीच-बीच में निकलते रहते थे जिनमें हास्य का पुट काफी रहता था। पर जिन-जिन व्यक्तियों को लक्ष्य करके व्यंग के वे पटाखे छोड़े जाते थे उनकी दयनीय दशा देखने ही योग्य होती थी। ज्यादातर उनके पटाखों के लक्ष्य ऐसे व्यक्ति होते थे जो या तो समाज के शोषक या उसके भीतर पैठे हुए घुन होते थे। इसलिये ऐसे व्यक्तियों पर किये गये नारायण भैया के व्यंगात्मक विनोद पर सबको प्रसन्नता ही होती थी। यही कारण था कि बने हुए समाजपति उनसे बहुत कुढ़ते थे और डरते भी थे।

नारायण भैया जिस सरकारी पद पर काम करते थे उसमें तरक्की पाने पर वह अलमोड़े से किसी दूसरे स्थान में चले गये। वर्षों के अंतर में वह कभी-कभी कुछ दिनों के लिये अलमोड़े आ जाया करते थे, पर अलमोड़े के जीवन से उनका संबंध एक प्रकार से छूट चुका था।

उसके बाद एक दिन अचानक मैंने सुना कि नारायण भैया ने नौकरी छोड़ दी है। इसका कारण यह बताया गया कि उनके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है, जिसका अर्थ सीधी-सादी भाषा में यह होता है कि वह पागल हो गये हैं। सुनकर मुझे जो धक्का पहुँचा, उसका

वर्णन नहीं हो सकता। पर उससे भी बड़ा धक्का तब पहुँचा जब मैंने अपनी आँखों से उनका वह तूफानी रूप देखा। उस दिन की याद मुझे अच्छी तरह है जब मैंने पहले-पहल उन्हें उस रूप में देखा। चार आदमी उनके हाथ पकड़कर उन्हें रोकने का प्रयत्न कर रहे थे, पर वह प्रबल धक्के से अपने को छुड़ाकर सड़क पर की छोटी-छोटी दीवारों को तोड़ने के कार्य में जुट जाते थे। उनके तूफानी झटके से कच्ची दीवारें ढह कर चट्टानों के टूटने की-सी आवाज करती हुई, ढलुवा पहाड़ी जमीन पर तांडव-नर्तक त्र्यंबक के अट्टहास की तरह ठहाका मारती हुई, नीचे की ओर लुढ़कती चली जाती थीं। और उस जड़ अट्टहास के साथ नारायण भैया का चेतन अट्टहास मिलकर एक विकट भौतिक भीति की भावना में चारों ओर के अपेक्षाकृत शांत वातावरण को कंपित कर देता था। उनके मुख पर अंकित उस समय का उन्मत्त उल्लास देखने ही योग्य था।

मैं आतंकित होने पर भी गंभीर भाव से सोचने लगा कि नारायण भैया पागल ही सही पर वह उल्लास किसी साधारण पागल में पाया जाना संभव नहीं है। और फिर उनके पागलपन ने तोड़-फोड़ की उस विशेष प्रवृत्ति को ही क्यों अपनाया है? मस्तिष्क के विकार को प्रकट करने का और कोई दूसरा ढंग क्यों नहीं पकड़ा?

कुछ दिन बाद उन्हें बरेली के पागलखाने में भेज दिया गया। कुछ महीने पागलखाने की हवा खाने से भैया की नयी प्रवृत्ति का तूफानी वेग थम गया। जब वह वहाँ से लौटकर अल्मोड़े आये तब उनका एक दूसरा ही रूप मैंने देखा। मैंने देखा कि उनकी प्रकृति के पुराने और नये रूपों के बीच जैसे एक समझौता हो गया है। उनकी विनोदी और व्यंगात्मक प्रवृत्ति लौट आयी थी, पर कुछ अजीब खामखयालियों के साथ। वह एक झाड़ू अपने साथ लिये रहते थे। रास्ते में चलते-चलते किसी मकान या दुकान के आगे सहसा झाड़ू देने लगते। रास्ते पर पड़े

हुए पत्थरों अथवा कबाड़ की दूसरी चीजों को उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकते रहते थे। ऐसी फुर्ती से वह यह काम करते थे कि लगता था जैसे उनके द्वारा फेंका गया पत्थर, लकड़ी या टिन अगल-बगल में चलने वाले किसी व्यक्ति पर जा लगेगा, इसकी तनिक भी परवा किये बिना ही वह अपना काम किये चले जा रहे हैं। पर कभी एक दिन के लिये भी ऐसी घटना न देखी न सुनी गयी कि उनकी इस प्रकार की कार्रवाइयों से किसी व्यक्ति को चोट आयी है।

शहर के सब लोग उन्हें पहले भी जानते थे और अब तो नयी पीढ़ी का प्रत्येक बच्चा भी उन्हें जानने लगा था। इसलिये जब वह तेज चाल में चलते हुए सहसा किसी मकान या दुकान में घुस जाते तब न तो दुकानदार ही कोई आपत्ति करता था न मकान वाला ही। कारण स्पष्ट ही यह था कि प्रकट में उनकी किसी भी खामखयाली का चाहे कोई भी रूप लोगों के सामने क्यों न आता, पर सब यह जान गये थे कि नारायण भैया कभी किसी की कोई क्षति किसी भी आर्थिक और नैतिक रूप से नहीं कर सकते। बल्कि जिस मकान या दुकान में वह पहुँच जाते उसके मालिक का मनोविनोद ही होता था। नारायण भैया अपने सारे पागल-पन के बावजूद उन व्यक्तियों के इस मनोभाव को समझते थे जिनके यहाँ वह सहसा धावा बोल देते थे और इसका पूरा लाभ भी उठाते थे। यदि किसी मोदी की दुकान में घुस जाते तो उसे और उसके ग्राहकों के बनियों के डंडी मारने के दिलचस्प किस्से तथा और भी बहुत-सी मीठी-कड़वी बातें सुनाकर उससे सेर आध सेर आटा लेकर ही छोड़ते। वे सस्ती के दिन थे, एक सेर आटे का दाम ८ पैसे से ज्यादा नहीं था, अतएव खलने पर भी इतना आटा दुकानदार दे सकता था। यदि किसी जनरल मर्चेंट की दुकान में घुस जाते तो व्हाइटअवे एन्ड लेडला कंपनी के जन्म और विकास का इतिहास और उनकी दुकानों में 'ठगे जाने वाले' ग्राहकों के संबंध में रोचक चुटकुले सुनाकर उससे कुछ बिस्कुट और

चाकलेट लेकर ही पिंड छोड़ते थे। यदि किसी सुसंस्कृत (और साथ ही सुसंपन्न) व्यक्ति के घर पर सहसा धावा बोलते तो उससे लैटिन साहित्य की बातें करने लगते। श्रोताओं के आश्चर्य की सीमा न रहती जब वे एक 'रेकग्नाइज्ड' पागल को लैटिन भाषा के प्राचीन कवियों अथवा दार्शनिकों की मूल पंक्तियों को दुहराते और उनका अर्थ समझाते हुए पाते। और यह सब कुछ सुना चुकने के बाद अपनी 'टॉक' का मूल्य—चाहे वह एक रुपया अथवा चार ही आना क्यों न हो—माँगना न भूलते। यदि किसी दिन किसी कंजूस धनपति के यहाँ जा पहुँचते तो उसे परलोक का भय दिखाने लगते। कहते—"मौत तुम्हारे सामने खड़ी है। अब समय इस बात को याद रखो और इतना सब रुपया तुम गठरी बाँधकर अपने साथ नहीं ले जा सकोगे। बोझ बड़ा भारी है और नदी में बाढ़ आयी हुई है और नाव तुम्हारी बहुत छोटी और बहुत पुरानी है। इसलिये इसी पार इस बोझ को जितना कम कर सको उतना ही अच्छा है। और फिर परलोक में यम के दूत काले-काले भूतों की तरह दाढ़ निकाले भालू के से नाखूनों को आगे बढ़ाकर, जलते हुए अंगारों-सी आँखों को दहकाते हुए तुम्हारी ओर देखेंगे और तुमसे पाप-पुण्य का लेखा-जोखा पूछेंगे तब क्या उत्तर दोगे? यही न कहोगे कि मैंने कौड़ी-कौड़ी के लिये गरीबों का खून चूसकर चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय की नीति का पालन किया और स्वयं अधपेट खाकर, दूसरों का भी पेट काटकर कन-कन करके मन जोड़ा है। मेरे मरने के बाद मेरी गुप्त और प्रकट संपत्ति के रक्षक कौन यक्ष होंगे मैं नहीं जानता। मैंने केवल जोड़ना सीखा है और जोड़ते-जोड़ते मेरे प्राण निकले हैं। कभी एक कानी कौड़ी भी मैंने उन लोगों की सहायता के लिये नहीं दी है जो सामाजिक और पारिवारिक संघर्ष में अर्थाभाव से पिसे जा रहे थे। मैं महान् संग्राहक हूँ, इसलिये मुझे स्वर्ग-प्राप्ति होनी चाहिये! पर तुम्हें खबर नहीं है कि यमलोक वालों का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही होता है। जब अग्निकुण्ड में

तुम्हें हवन के लिये जीता छोड़ दिया जायगा और खूब जलाने के बाद फिर जीता ही निकाला जायगा, तलवारों की धार के ऊपर तुम्हारा हाथ पकड़-पकड़कर नंगे पाँव चलने को विवश किया जायगा, जेठ की लू से जलते हुए ताँबे के सैकड़ों मील व्यापी क्षेत्र में नंगे बदन घुटने के बल चलाया जायगा और साथ-साथ नंगे नितंब प्रदेश पर बिच्छू-जातीय पौदे और कोड़ों की मार पड़ेगी, पीबकुंड में और साँपों, बिच्छुओं, केंचुओं और गोजरों से भरे गह्वर में तुम्हें ढकेला जायगा तब तुम्हारी वह रक्त-संचित पूँजी कभी किसी काम नहीं आयगी। इसलिये लाओ, पाँच रुपया तुरंत मेरे हवाले करो !"

मेरे सामने ही उन्होंने एक दिन एक कंजूस को इन शब्दों में ललकारा था। मैं मानता हूँ कि यह तर्कशैली घिसे-घिसाये ढंग की थी, पर इसका जो प्रभाव देखा उससे मैं चकित रह गया। जो कंजूस महाशय कभी पैसा भी बिना चौगुने लाभ की आशा से किसी को देने में प्रायः अपने प्राणों की बाजी लगा देते थे वे इस भाषण से इस कदर आतंकित हो उठे कि उन्होंने नारायण भैया को एक रुपया दे डाला। अँगूठे के नाखून पर रुपये को दो-तीन बार बजाने के बाद जब भैया को यह विश्वास हो गया कि मक्खीचूस महोदय ने चालाकी से उन्हें खोटा रुपया नहीं दिया है, और रुपया वास्तव में खरा है, तब वह बोले—"चलो भागते भूत की लँगोटी ही सही! तुमसे इतना मिलने की आशा मैं नहीं करता था।" और यह कह कर वह बड़ी फुर्ती से बाहर निकल गये।

पर एक दूसरे सज्जन थे जिन पर नारायण भैया की सारी कलाबाजी व्यर्थ सिद्ध हुई और सारे वार ऐसे विफल हुए जैसे चट्टान पर वर्षा की बूँदें। जब सब कुछ सुनने के बाद भी उस कंजूस वृद्ध ने, जिन्होंने स्वयं फटे हाल रहकर प्रायः बीस-बाईस लाख की संपत्ति जोड़ ली थी, नारायण भैया को चार से पाँचवाँ पैसा देने से साफ इनकार कर दिया, तब अंत में खीझकर भैया बोले—"साले जीवे जा और कुछ दे मत। अगले

जन्म में अगर तू इम्पीरियल बैंक का चूहा बनकर पैदा न होगा तो जितने की चाहे बाजी बद ले !"

वृद्ध महाशय बहुत-कुछ सह चुके थे, पर इस अंतिम कटूक्ति को न सह सके। एक गहरा छींटा कसते हुए बोले—"मेरी दुर्गति तो अगले जन्म में जब होगी तब होगी, पर तुम तो अपने कर्मों के फल से इसी जन्म में भंगी बने फिर रहे हो। जब देखो तब सड़कों और गली-कूचों पर झाड़ू लगाते फिरते हो।"

यह एक बड़ी जबर्दस्त ललकार थी जिस पर चुप लगा जाना नारायण भैया के स्वभाव के व्यक्ति के लिये संभव नहीं था। अपनी जबान को सान पर चढ़ाकर उन्होंने कहा—"बेटा, तुम्हारी खोपड़ी में तो गोबर भरा है, तुम मुझे क्या समझ सकते हो ! जानते हो मैं कौन हूँ ? मैं वह शख्स हूँ जो अल्लाह मियाँ से बड़ा है और भंगी से छोटा। अपने दिमाग से गोबर निकालकर उसे जरा धो लो तब मुझसे बातें करना !"

पर भैया की खामखयाली केवल झाड़ू देने तक ही सीमित नहीं थी। एक और खब्त उनके सिर पर सवार था। नींद उन्हें कतई नहीं आती थी। सारी रात वह जागते रहते। इधर-उधर सड़कों और बाजारों का चक्कर लगाते हुए वह सूखी लकड़ियाँ, रद्दी कागज के टुकड़े आदि बटोरते रहते और फिर किसी मकान के नीचे उन्हें रखकर दियासलाई लगा दिया करते। खास-खास मकानों को ही वह अपना लक्ष्य बनाते थे, जिनमें उक्त कृपण का मकान भी एक था जिसने उन्हें कुछ देने से इन-कार कर दिया था। पर, पता नहीं क्यों, उनकी लगाई हुई आग कभी अधिक नहीं भड़क पाती थी। दो-एक मिनट के लिये धधकने के बाद फिर फुसफुसा कर रह जाती थी।

अल्मोड़े में जिस मकान में मैं रहता था वह कचहरी के किले के नीचे वाले बाजार की पत्थर से पटी हुई सड़क पर था। रात में जब चारों

और सन्नाटा छा जाता और पुलिस वालों का गश्त भी समाप्त हो गया होता तब अचानक नींद टूटने पर मेरे कानों में किसी के इधर से उधर और उधर से इधर लोहे की नाल वाले जूतों को पत्थर पर फटफटाते हुए बड़ी तेज चाल में चलने—बल्कि दौड़ने की आवाज आती रहती और उसके साथ ही कुछ खटर-पटर करने का शब्द सुनाई पड़ता। दो-चार दिनों तक आलस्यवश यह सोचकर उस आवाज की उपेक्षा की कि कोई दुकानदार अपनी दुकान का सामान सँभाल रहा होगा। पर जब बाद में आधी रात के बाद ठीक उसी प्रकार की खटर-पटर की आवाज सुनाई देती रही तो अपनी निद्रा में स्थायी व्याघात की आशंका से एक दिन मैं कपड़े पहन कर बाहर निकल पड़ा। तब आधी से भी अधिक रात बीत चुकी थी। बाहर जाकर बाजार की छोटी सी दीवार के ऊपर मैं बैठ गया, यह जानने के लिये कि खटर पटर करने वाला व्यक्ति कौन है और किस उद्देश्य से वह ऐसा कर रहा है। सफेद बादलों से चंद्रमा का जो प्रकाश आ रहा था उसके सहारे मैंने देखा नारायण-भैया इधर-उधर से तिनके बटोर कर एक दुकान के नीचे जमा करते चले जा रहे हैं। वह कपड़ों की दुकान थी, जिसका मालिक देहातियों से प्रायः दुगने मूल्य में कपड़े बेचने का व्यापार करके मालदार बन गया था। मेरा मन कुछ शंकित हुआ। पर मैं उस विषय पर कुछ बोला नहीं। सहज भाव से मैंने कहा—"नमस्कार नारायण भैया!"

ठीक से पहचानने के उद्देश्य से नारायण भैया मेरे निकट चले आये और देखते ही बोले—"ओह, तुम हो! यहाँ क्यों बैठे हो?"

"मैं ठीक यही प्रश्न आप से करना चाहता था। आप बताइये, किस जुगत में लगे हुए हैं?"

"हँ हँ- हँ-हँ- हँ! यों ही कुछ बच्चों का खेल चल रहा है!" कहकर भैया दाँत निपोड़ने लगे।

"आज किसकी शामत आयी है? इस कपड़ेवाले से आप इस कदर नाराज क्यों हैं?"

"हँ-हँ-हँ हँ-हँ! साला बड़ा चोट्टा है!"

"पर क्या सचमुच तुम उसकी दुकान जला ही डालोगे?" मैंने आतंकित होकर कहा।

"कोशिश तो जरूर करूँगा। अपनी ओर से तो मैं नहीं चूकूँगा। बाक़ी रहा उसका भाग्य। हँ-हँ-हँ हँ हँ!" मेरे साथ भैया अपनी उस दिमागी हालत में भी बराबर प्रेमभाव से मुस्करा कर ही बातें करते थे।

"पर उसकी दुकान जलने से अगल बगल की दुकानों में भी अवश्य ही आग लग जायगी, और फिर मेरा मकान भी तो बगल में है। हम-लोगों ने आपका क्या बिगाड़ा है?"

अबकी भैया कुछ तमक उठे। स्नेह भाव में डाँटते हुए बोले—"तुम हो मूर्ख, समझते कुछ नहीं हो। अरे, पहले कपड़ों में आग लग तो जाये! उसी में आग पकड़ने में अभी पूरा दो घंटा समय लग जायगा। साले की दुकान सील से तर है। सारे कपड़े सील खाये हैं। धीरे धीरे आग सुलगेगी। उसके बाद दुकान के ऊपर का मकान धीरे-धीरे जलेगा और तब अगल-बगल के मकानों और दुकानों तक आग पहुँच सकेगी! तुम्हारे मकान तक पहुँचते-पहुँचते सुबह हो जायगी। इसलिए तुम्हें अभी से इस कदर घबराने की आवश्यकता क्या है?"

बादलों से घिरे हुये चाँद के धुँधले प्रकाश में मैंने अपनी दृष्टि-शक्ति को पूर्णतया केन्द्रित करके यह जानने का प्रयत्न किया कि नारायण भैया परिहास में यह सब कह रहे हैं या पूरी गंभीरता के साथ। उनके मुख पर एक स्थिर निश्चित भाव की छाया देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

पहले से भी अधिक घबरायी हुई आवाज में मैंने कहा—"भैया, क्या तुम सचमुच यहाँ पर आग लगाने पर तुले हुए हो ?"

भैया तमक कर बोले—"मैं तुमसे इन सब बातों पर बहस करने के लिये कतई तैयार नहीं हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम घर जाकर चुपचाप सो जाने के बजाय यहाँ क्यों बैठे हो !" और उसके बाद मेरे उत्तर की तनिक भी प्रतीक्षा न करके उन्होंने तिनके, कागज, थैलियाँ आदि चीजों को बटोरने का काम फिर से शुरू कर दिया। इधर-उधर से बटोर कर वह ठीक उसी कपड़े की दुकान के आगे जमा करते चले गये। मैं ऐसा जड़ बन गया था कि उनकी उस भयंकर तैयारी में रुकावट डालने की इच्छा रहने पर भी सक्रिय विरोध की तनिक भी शक्ति जैसे मुझमें नहीं रह गयी थी। मैं वहीं बैठा-बैठा स्तब्ध दृष्टि से उनकी कारसाजी देखता रहा—इस प्रतीक्षा में कि कब वह आग लगावें। कहीं मेरे भीतर भी आदिम काल की कोई अज्ञात प्रवृत्ति उस आगजनी में सहयोग देने के लिये उत्सुक तो नहीं थी—भले ही उसका परिणाम मेरे लिए भी घातक हो ? मैं कह नहीं सकता।

बैठे-बैठे मुझे बहुत देर हो गयी, पर आग जलाये जाने के कोई लक्षण मुझे नहीं दिखायी दिये। एक-आध बार भैया ने दियासलाई जलायी। मेरा कलेजा उत्कंठा—अथवा उत्सुकता से धड़क—शायद फड़क—उठा। पर जब मैंने देखा कि भैया उससे बीड़ी जलाने लगे हैं तब मेरी निराशा का कोई ठिकाना नहीं रहा। हम दोनों मौन थे। भैया का बिगड़ा हुआ 'मूड' देखकर मुझे उनसे कुछ कहने का साहस नहीं होता था, और वहाँ से मैं उठ भी नहीं पाता था—यह सोचकर कि पीछे वह न मालूम क्या कांड कर बैठें।

इतनी देर बाद मुझे अपने स्थान पर डटा हुआ देखकर भैया का दबा हुआ क्रोध भड़क उठा। मेरे पास आकर झल्लाकर बोले—"तुम

क्या अब सचमुच यहाँ से नहीं हटोगे ? क्या रात भर यहीं बैठे रहोगे ? बड़े आवारा हो गये हो जी तुम ! मुझे तुम्हारे घर वालों से शिकायत करनी पड़ेगी ?"

मैंने कहा —"आप मुझे अच्छी सलाह दे रहे हैं ! आप मेरे पड़ोसियों के और मेरे घर में आग लगाने पर आमादा हैं और मुझसे चले जाने को कहते हैं ! जब तक आप यहाँ से नहीं चले जाते तब तक मैं यहाँ से कैसे हट सकता हूँ !"

"अच्छी बात है !" बड़बड़ाते हुए भैया बोले—"तुम बैठे रहो, मुझे तुम्हारा डर नहीं है। लो, मैं आग लगाता हूँ। तुम्हें जो कुछ करना हो कर लेना !" और यह कहकर वह सचमुच कूड़े के उस ढेर के पास चले गये जिसे उन्होंने आग लगाने के लिये बटोर रखा था। मैं स्नशंकित हो कर उठा और घटनास्थल के पास ही जाकर खड़ा हो गया। भैया ने दियासलाई जलाना आरंभ किया। पहली दियासलाई बिना जले ही टूट गई। उसे उन्होंने फेंक दिया। दूसरी दियासलाई जलाकर उन्होंने कागज के एक टुकड़े पर उसे लगाया। पर शायद कागज का वह टुकड़ा कुछ गीला था, उसमें एक सेकेंड के लिये आग लगकर तत्काल बुझ गयी। उन्होंने तीसरी दियासलाई जलाई। उसे कागज के दूसरे टुकड़े पर लगाया। वह टुकड़ा आग पकड़ गया। उसके साथ कुछ सूखे हुए तिनके भी जलने लगे। पर उन तिनकों से आगे वह आग नहीं बढ़ पायी ! तिनके जलकर राख हो गए और आग फिर बुझ गयी। भैया ने दाँत पीसते हुए "डैम इट !" कहकर जोर से एक ठोकर उस बटोरे हुए कूड़े पर मारी और उसे चारों ओर बिखेर दिया। उसके बाद मेरी ओर मुखातिब होकर बड़े कड़े स्वर में बोले— "तुम्हारी वजह से आज मेरा रात का सारा शगल चौपट हो गया ! खैर, कोई बात नहीं, मैं फिर देख लूँगा !" और वह पास ही पड़ा हुआ

लकड़ी का एक टुकड़ा उठाकर अपनी स्वाभाविक तेज चाल से चल दिये।

× × ×

नारायण भैया के क्रिया कलापों को बहुत निरखने-परखने पर भी मैं इस संबंध में किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाता था कि उनके 'पागलपन' में वास्तविकता की मात्रा कितनी है और कृत्रिमता कितनी। शहर के प्रायः सभी लोग उनके नाम के आगे 'पागल' उपनाम अनिवार्यतः जोड़ने के आदी थे, और उनमें से अधिकांश व्यक्ति यह विश्वास भी करते थे कि वे पूरे पागल हैं। पर मैंने उनके पूरे पागल होने की बात तो कभी सोची ही नहीं, बल्कि मुझे बीच-बीच में यह सन्देह होने लगता था कि वह अंशतः भी पागल हैं या नहीं। उनकी प्रत्येक गतिविधि से मुझे सदेह होने लगता था कि वह जान बूझकर अपने वास्तविक व्यक्तित्व के ऊपर पागलपन का कृत्रिम आवरण डाले हुए हैं। पर जान-बूझ कर पागल बनने के मूल में भी तो कोई कारण होना चाहिये! तब वह कारण क्या हो सकता है? उसका पता लगाने के लिये मैं बहुत दिनों से उत्सुक हो रहा था।

अंत में एक दिन मुझे अपनी उस उत्सुकता के निवारण का मौका मिल ही गया। उस दिन शाम को भैया सहसा मेरे बैठकवाले कमरे में घुस आये। मैं अकेला बैठा हुआ मन की अपेक्षाकृत एकांत स्थिति में कुछ लिख रहा था।

नारायण भैया आते ही सहज भाव से मुस्कराते हुए बोले—"क्या लिख रहे हो? कोई लेख?"

उस समय उनके मुख पर वही सहज प्रसन्नता और शांत स्निग्धता छाई हुई थी जो मुझे मेरे बचपन के दिनों में उनके विनोद-प्रिय और साथ ही संवेदनशील स्वभाव की याद दिलाती थी।

मैंने लिखना छोड़कर—उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"यों ही कलम घसीट रहा था।"

"कहाँ छपाओगे ? 'शक्ति' में ? जैसे ही निठल्ले तुम आजकल के नये लेखक हो वैसा निकम्मा पत्र तुम अलमोड़ेवालों को मिला है।"

मैंने विनम्र भाव से कहा—"जी नहीं, मैं अगर छपाऊँगा तो बाहर की किसी पत्रिका में।"

"पर क्या तुम यह विश्वास किये बैठे हो कि बाहर के पत्र तुम्हारा लेख छाप देंगे ? अरे शक्ति तुम्हारे घर की मुर्गी है, उसे तुम चाहे जैसे भी कूड़े कचरे से भर दो। पर बाहर के पत्र ! कभी संभव नहीं है!" और वह मेरे आगे फर्श पर पलथी मार कर बैठ गये।

मैं उस विषय को टालते हुए असली विषय पर आया। बोला—"कहिये, आज आपने कैसे कृपा की ?"

"तुम्हारी जेब में कुछ पैसे हैं ? निकालो!"

"पहले आप बताइये कि आपको कितने पैसों की जरूरत है। उतना मेरी जेब में होगा तो निकालूँगा, नहीं तो......"

" 'नहीं तो' का सवाल ही नहीं है, कुछ-न-कुछ तो तुम्हारी जेब में अवश्य ही होगा। मुझे इस समय दो रुपया चाहिए। यदि इतना हो तो दे दो, नहीं तो जितना हो उतना ही निकालो।"

यह जानकर कि कोई भी बहानेबाजी किसी काम न आयेगी, मैंने चुपचाप दो रुपया निकालकर दे दिया।

रुपयों को बड़ी फुर्ती से कोट की भीतरी जेब में रखते हुए उन्होंने कहा—"अब खाने की जो-कुछ चीज तुम्हारे पास हो दो। बड़ी भूख लगी है।"

मैंने हँसकर कहा—"आप रुपया भी लेंगे और खाना भी ? जब खाना ही आपको माँगना था तब रुपया माँगने की क्या जरूरत थी ?"

वह तमककर बोले—"तुम अजीब नासमझ आदमी हो। रुपये से

और खाने से क्या संबंध ? तुम क्या समझते हो कि जो रुपया मैं लोगों से माँगता हूँ वह सब अपने खाने के लिये ? ऐसे गधे शिकारपुर में रहते होंगे। मैं जहाँ भी जाऊँ, मुझे आसानी से खाना मिल जाता है। पर मेरे घरवाले कहाँ-कहाँ माँगते फिरेंगे ? इसलिये मैं दिन भर की दौड़ धूप के बाद जितना कुछ भी पैसा इकट्ठा कर पाता हूँ उसे चुपचाप घरवालों को दे आता हूँ। मेरी नौकरी छूट चुकी है। अगर मैं घर-घर जाकर लोगों को डरा-धमकाकर—रुपये न माँगूँ तो मेरे घर के लोगों की गुजर कैसे हो ? लाओ खाना !"

मैंने देखा कि जिसे लोग पागल समझे बैठे हैं वह सांसारिक बुद्धि में सबके कान काटने जा रहा है। मैं भीतर गया और घर में रखी हुई जितनी कुछ भी खाने की चीजें बटोर पाया बाहर ले आया। नारायण भैया को ऐसी उतावली पड़ी हुई थी कि उन्होंने थाली मेरे हाथ से प्राय: छीन ली और बिना किसी भूमिका के गपागप खाना शुरू कर दिया। पास ही सुराही से शीशे के गिलास में पानी भर कर मैंने उनके आगे रख दिया। दो या तीन मिनट के भीतर सब-कुछ चट करके उन्होंने एक घूँट पानी पिया और फिर उसी से हाथ धोकर मेरी बगल में एक तकिये के ऊपर आराम से बैठ गये। मैंने एक सिगरेट निकाल कर उन्हें दी। जब वह उसे जलाकर धुआँ निकालने लगे, तब मैंने अच्छा मौका जान कर पूछा—

"अच्छा भैया, एक बात। बिना किसी दुराव के अपने मन की सही-सही बातें मुझे बता दीजिए। सबके पहले आप यह बताइये कि आप क्या सचमुच में पागल हैं जैसा कि लोग कहते हैं, या जान बूझकर पागल बने हुए हैं ?"

इस बार भैया मुस्कराये। वह ऐसी सहज स्निग्ध मुसकान थी जो कभी किसी पूरे या आधे पागल के चेहरे पर खिल ही नहीं सकती। बहुत ही कोमल स्वर में उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

"मुझे विश्वास नहीं होता कि आप सचमुच में पागल हैं।"

"तब यही मान लो कि मैं बना हुआ हूँ।" अबकी बार उनकी मुसकान में रहस्यमयता का एक पुट आ गया।

"पर इस 'बनने' का कारण क्या हो सकता है? यह रूप धारण करने की इच्छा आपके मन में कैसे और क्यों उत्पन्न हुई, मैं यह जानने के लिये बहुत उत्सुक हूँ।"

भैया तकिये का सहारा छोड़कर पलथी मार कर सीधे बैठ गये। उसके बाद अत्यंत गंभीर भाव से बोले—"अगर मैं जानबूझ कर पागल का रूप धारण न करूँ तो सचमुच में पागल बन जाऊँ। तुम लेखक हो, तुमसे असली रहस्य छिपाना व्यर्थ है। मैं मुक्त स्वभाव का आदमी हूँ, और छुटपन ही से किसी भी प्रकार के बंधन में बँधने का आदी नहीं रहा हूँ। पर बंधनों से मुक्त रहने की इच्छा होने ही से आदमी मुक्त नहीं हो जाता। कुछ भाग्यशालियों को छोड़ कर सभी को सांसारिक बंधन बरवश जकड़ लेते हैं। बल्कि मैंने तो यह देखा है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक बंधनों से भागना चाहता है उसे सांसारिक बंधन उतना ही अधिक जकड़ लेते हैं। मेरे साथ भी यही किस्सा हुआ। गृहस्थी के बंधनों में मैं इस हद तक बँध गया कि स्वतंत्र इच्छा नाम की कोई चीज ही मेरे लिये न रही। गृहस्थी के बंधनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होने के कारण ही मुझे नौकरी का बंधन भी स्वीकार करना पड़ा। इन दोनों पाटों के बीच में मैं ऐसा पिसता चला गया कि उबरने का कोई रास्ता ही मुझे नहीं दिखाई दिया। मैं चाहता था कि मैं एकदम स्वतंत्र सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों से परिपूर्ण रूप से मुक्त होकर नाचूँ, गाऊँ, हँसूँ, खेलूँ। पर उन बंधनों के कारण मुझे रोने तक की फुर्सत नहीं मिलती थी, हँसना तो दूर की बात थी।

"फिर भी मैंने जिन्दगी के कई वर्ष उन्हीं बंधनों के जुए के नीचे कोल्हू के बैल की तरह पिसते हुए ऊपरी उदासीनता के साथ बिता

दिये। मेरे भीतर क्या बीत रही थी इसकी कोई खबर मैंने दुनिया को न लगने दी। क्योंकि मैं जानता था कि अगर मैं अपने मन का रोना किसी के आगे रोऊँ तो निश्चय ही मुझे पागल समझकर लोग मेरी हँसी उड़ाने लगेंगे। जग हँसाई से मैं बहुत डरता था, यह मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी थी। पर मेरे मन के साथ ही मेरा शरीर भी पिसता चला जा रहा था। जीवन की उस एकरसता के दलदल में मैं मन की गाड़ी किसी-न-किसी प्रकार से ठेलता चला जाता; पर शरीर की गाड़ी ने आगे बढ़ने से एकदम इनकार कर दिया। मुझे कुछ ऐसे रोग लग गये जिनके कारण मेरे लिए दफ्तर का काम करना असंभव हो गया। यदि मैं लगातार दो घंटे बैठकर काम करता तो मुझे चक्कर आने लगता। एक दिन मैं दफ्तर से घर पहुँचा तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे सिर की नसें फटने ही वाली हैं और हृदय की धड़कन भी, जो बहुत बढ़ गयी थी, कहीं बंद न हो जाय।

"किसी तरह उस दिन का वह संकट टल गया। पर उससे मेरे मन के भीतर एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। जिस जग हँसाई से मैं बुरी तरह डरता था उसका कोई भी डर अब मेरे मन में न रहा और मैंने निश्चय कर लिया कि मैं नौकरी छोड़कर निर्द्वन्द्व जीवन बिताऊँगा। क्योंकि मैं तभी जी सकता था और सचमुच का पागल होने से बच सकता था। मैंने एक बहाना ढूँढ़ा और पागलों का रूप धारण कर लिया। इसी सिलसिले में मैं एक बात तुम्हें बता दूँ। जो लोग पागलों का रूप जान बूझकर धारण करते हैं वे एक प्रकार के सचमुच में पागल ही होते हैं। वे अपने मन के असाधारण संसार में विचरण करते हुए सांसारिक विषयों पर असाधारण दृष्टिकोण से विचार करते हैं। हैमलेट इसका उदाहरण है। वह यद्यपि सचमुच में पागल नहीं था, बल्कि पागल का स्वाँग रचकर दुनिया के रंग-ढंग जानना चाहता था, पर सभी विषयों पर उसका दृष्टिकोण ऐसा निराला था कि यह कहना होगा कि बौद्धिक स्तर

में वह पागलों की ही तरह विचित्र उड़ाने भरा करता था। पर हम इस समय बातें करते हैं, उन पागलों की, जो अपने सचेत और अचेत मन के बीच का कोई भेद नहीं जानते और जिनके कार्य-कलापों में कोई संगति और कोई मैथड नहीं होता। ऐसा पागल मैं कभी नहीं रहा। पर ऐसे पागलों का रूप मैंने अवश्य धारण कर लिया। मैंने तोड़-फोड़ और मार-पीट का भी ढंग किसी हद तक अख्तियार कर लिया, जिसमें लोगों के मन में मेरे पूरे पागल होने का विश्वास जम जाय। हुआ भी ऐसा ही। जब मैं भी 'पागलपन' की अवस्था में नौकरी छोड़कर घर आया तो वहाँ मुझे अपना वही उत्कट रूप दिखाने की जरूरत आ पड़ी—इसलिए कि मैं चाहता था कि मेरे घर के लोग भविष्य में मुझसे किसी प्रकार की कोई आशा न रखें।

"अन्त में मेरे सभी हितैषियों ने मिलकर मुझे पागलखाने भेज दिया। मैंने इस दंड को जान बूझ कर इस लिए स्वीकार कर लिया कि मेरे हितैषियों के मन में यह धारणा पक्की तरह जम जाय कि मैं वास्तव में पागल ही हूँ, अब किसी काम के योग्य नहीं रह गया हूँ। जितने महीने भी मैंने पागलखाने में बिताये बड़े मौज से रहकर, दूसरे साथी पागलों को और पागलखाने के अधिकारियों को भी हँसाता रहा।"

"पागलखाने से बाहर निकलने पर मैं अपने निजी ढंग से एक नये 'मैथड' के अनुसार जीवन बिताने लगा। वह 'मैथड' क्या था? तुमसे छिपा नहीं है। अपनी गति-विधि में पागलपन का एक हल्का-सा बाहरी पुट देकर सब बातों में मैंने संगति कायम रखी है। घर वालों की गुजर-बसर का ध्यान मुझे अब भी है। इसलिए मैं अपने 'पागलपन' के बावजूद उन्हें कभी भूखों नहीं मरने देता। जो भी काम मैं करता हूँ या जो जो भी बात किसी आदमी से भी करता हूँ वह जानबूझ कर किसी न किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही करता हूँ। मैं अब प्रसन्न हूँ और पूर्णतया सुखी हूँ। इसका कारण यह है कि मैं दुनिया के बीच

में रहते हुए सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हूँ। जग-हँसाई का कोई डर न रह जाने से मैं अपनी खामखयालियों के अनुसार कार्य करने को स्वतंत्र हूँ। खामखयालियाँ सभी आदमियों के भीतर होती हैं, पर जग-हँसाई के डर से लोग भरसक उन्हें दबाये रहते हैं और बाहर से शिष्ट और नियमबद्ध बने रहने का ढोंग रचते हैं। पर मैं चूँकि उस भावना पर विजय पा चुका हूँ इसलिए अपनी खामखयालियों को दबाये रहने का कोई कारण मेरे लिए नहीं रह गया है। घर वालों की गुजर के लिए मैं जो पैसा इकट्ठा करता रहता हूँ, वह केवल कर्तव्य समझकर, किसी पारिवारिक मोह के कारण नहीं। इसके अतिरिक्त पागलपन को अपनाने से एक और लाभ मुझे हुआ है। वह यह कि अब मैं पागलपन की आड़ में उन दुष्टों, बदमाशों, समाज की छाती पर घुन की तरह घुसे हुए और जोंक की तरह चिपके हुए बेईमानों को खुलकर गालियाँ दे सकता हूँ, जिनसे अपनी 'सभ्य' और शिष्ट अवस्था में मैं मन-ही-मन बहुत जलता था, पर झूठे शिष्टाचार वश कुछ कह नहीं पाता था''

पागलपन की सफाई में उस विचित्र पागल का तर्कपूर्ण भाषण सुनकर मैं स्तब्ध था। कुछ देर तक मैं विमूढ़ भाव से उस समय की गंभीर और अपेक्षाकृत शांत मुखमुद्रा की ओर देखता रहा। सहसा मुझे उस रात की याद आयी जब वह कपड़े की दुकान पर आग लगाने के प्रयत्न में जुटा हुआ था। मैंने कहा—''आपकी सब बातें मेरी समझ में आ गयीं, पर एक बात मैं नहीं समझ पाया। आपने अभी बताया कि आपके प्रत्येक कार्य में एक संगति और एक 'मैथड' रहता है और जो भी काम करते हैं वह किसी न किसी उद्देश्य को सामने रख कर ही करते हैं। तब बताइये कि आप समय-समय पर जो किसी-न-किसी स्थान में आग लगाने के प्रयत्न में जुटे रहते हैं उसके पीछे क्या उद्देश्य हो सकता है ? कभी आपने

सचमुच में किसी मकान या दुकान में आग लगा दी हो इसका एक भी उदाहरण मेरे सामने नहीं है। तब इस खेलवाड़ में आपको क्या दिलचस्पी रहती है? आप किसी को दिखाने के लिए यह काम करते हों, ऐसा भी नहीं है। आप रात में एकान्त पाकर सबकी नजरें बचाकर ही ऐसा करते हैं। उस रात जब मैंने आपका इस तरह के काम देख लिया तो आप बहुत बेचैन हो उठे थे और आपने इस बात की पूरी कोशिश की कि मैं उठकर चला जाऊँ। तब आपकी इस प्रवृत्ति में क्या रहस्य छिपा है?''

नारायण भैया के मुख पर फिर एक बार वही सहज सरल मुस्कान छा गयी जो मेरे पहले प्रश्न के उत्तर के रूप में खिल उठी थी। बड़े ही भोले भाव से वह बोले—''यह तुमने सचमुच मेरे स्वभाव की एक ऐसी कमजोरी पकड़ी है जिसकी कोई तगड़ी सफाई मेरे पास नहीं है। मैं इसे भी अपनी एक खामखयाली कहकर टाल सकता हूँ। पर यह—और केवल यही एक—खामखयाली ऐसी है जो असली पागलपन के बहुत-कुछ निकट है। इसीलिए मैं इसे भरसक छिपाने की चेष्टा करता हूँ। और एक दृष्टि से अगर देखा जाय तो मेरी यह छिपाने की प्रवृत्ति ही बताती है कि मैं सचमुच का पागल नहीं हूँ। बहरहाल, यह मानना ही पड़ेगा कि मुझमें यह एक अनोखी कमजोरी है। वैसे मैं तुम्हें बता दूँ कि मैं जानता हूँ कि मेरे भीतर की इस खाम-खयाली के मूल में क्या बात है। मैं स्वभाव से ही विद्रोही प्रकृति का आदमी रहा हूँ। समाज के भीतर किसी भी प्रकार के भ्रष्टाचार या शोषण को देखकर मेरे सिर में बराबर दर्द उठता रहा है। पर साथ ही मेरे स्वभाव में एक दूसरी भी विशेषता है। मैं चाहे किसी से कितना ही रूष्ट क्यों न होऊँ पर कभी किसी को सक्रिय रूप में कोई भौतिक हानि पहुँचाने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। मेरे भीतर की कोई चीज मुझे इस हद तक जाने से बराबर रोकती रही है। इसलिए मेरा विद्रोह केवल काल्पनिक रूप धारण करके रह जाता है और मन की

बात मन ही में टकरा कर बिखर जाती है। आग लगाने की जो प्रवृत्ति इधर मेरे भीतर जग उठी है वह शायद उसी विद्रोह की काल्पनिकता का बाहरी प्रतीक है। और यहीं मेरा पागलपन भी है क्योंकि इसकी कोई सार्थकता नहीं है। यदि मैं सचमुच में किसी इच्छित स्थान पर आग धधका पाता तो मैं उसे पागलपन न मानता। पर मैं आग में केवल खेलता रहता हूँ, आग लगा नहीं पाता। यह है मेरा 'इन्टर-प्रेटेशन, अब तुम्हारी खुशी; तुम चाहे इसका जैसा भी अर्थ लगाओ।

उस दिन पहली और अन्तिम बार उस असाधारण पागल ने अपने बाहरी रूप का नकाब उतार कर अत्यन्त गंभीर विवेचनापूर्ण ढंग से एकांत भाव से बातें कीं। उसके दूसरे ही दिन मैंने नारायण भैया का फिर वही तूफानी रवैया देखा। मेरे पास भी फिर वही डाँट डपट का व्यवहार शुरू हो गया। मैं लाख चेष्टा करता रह गया कि वह फिर मेरे पास एकांत में बैठकर उसी गम्भीरता और विवेचना से बातें करें, पर मेरी कोई भी योजना इस संबंध में सफल न हो सकी।

विद्रोही

जब पहले पहल मैंने उसे देखा तब वह अलमोड़े के मिशन स्कूल की सातवीं कक्षा में पढ़ता था। इकहरा शरीर, गोरा सा मुँह, बड़ी-बड़ी आखें, सिर पर कुछ गोलाई लिये हुए लंबी सी नाक, न बहुत मोटे न बहुत पतले ओठ, संतुलित आकार प्रकार की ठुड्डी—यह था उस का हुलिया। उसकी आँखों में यद्यपि कोई खराबी नहीं थी, पर वह दाहिनी आँख को इस तरह घुमाने का आदी था, जिससे कभी-कभी यह भ्रम होने लगता था कि वह ऐंचाताना है। कुल मिलाकर उसकी आकृति यथेष्ट सुंदर थी। जिस दिन पहली बार उससे मेरा परिचय कराया गया उस दिन मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वह बहुत ही सीधे स्वभाव का देहाती लड़का है। मेरे बहुत चाहने पर उसने मुझसे अधिक बातें नहीं की। मैं स्वयं तब नवीं कक्षा में पढ़ता था और उम्र में भी उससे प्रायः दो वर्ष बड़ा था।

चूँकि मेरी मित्र-मंडली से उसने हेलमेल बढ़ा लिया था इसलिए स्वभावतः उसकी और मेरी भेंट अक्सर होने लगी। ज्यों-ज्यों मैं उसके संपर्क में अधिकाधिक आता चला गया त्यों-त्यों मुझे यह अनुभव होने लगा कि केसरीशरण यद्यपि अपरिचित व्यक्तियों के बीच में बहुत कम बोलता है, और जब कभी कुछ बोलता भी है तो बहुत धीरे—बड़े ही संकोच के साथ, तथापि जब वह घनिष्ट रूप से परिचित व्यक्तियों से बातें करता है तब उसके बराबर बातूनी भी दूसरा व्यक्ति कठिनता से मिल सकता है। मुझसे फिर भी वह कुछ समय तक संकोच करता रहा। पर बाद में जब धीरे-धीरे अपनी मित्रता के क्षेत्र में मुझे समान स्तर में आया हुआ पाया और उसी के शब्दों में 'बड़प्पन की बू-बास'

से मुझे मुक्त समझ लिया तब वह बेतकल्लुफ होकर मुझसे बातें करने लगा। पर उसकी यह 'बेतकल्लुफी' यहाँ तक बढ़ गयी कि वह बात-बात पर मुझे चिढ़ाने लगा। मैं स्कूली जीवन से ही आँखों में चश्मा लगाने लगा था, पर तबतक मैं नंगे पाँव ही रहता था। मेरे स्वभाव की विचित्रता का सबसे पहला परिचय उसे इसी बात से मिला। उसके बाद निश्चय ही मेरी कुछ और निराली आदतों का परिचय उसे मिला फल यह देखने में आया कि उसने मुझे 'खब्ती' कहना शुरु कर दिया। प्रारम्भ में उसका यह संबोधन मुझे बुरा नहीं लगा। क्योंकि तब तक मैं वास्तव में अपनी निराली आदतों को बड़प्पन की निशानी समझता था और मन-ही-मन उन पर गर्व किया करता था। अतएव 'खब्ती' होना भी मेरी दृष्टि में एक विशेष महत्त्व की ही बात थी। पर जब वह बार-बार मुझे चिढ़ाने के इरादे से 'खब्ती' कहने लगा तब मेरे बाल-मन पर उसका कुछ अच्छा मनोवैज्ञानिक प्रभाव नहीं पड़ा और मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने स्वभाव की जिन विशेषताओं को मैं महत्त्वपूर्ण माना करता था वे यथार्थ में मेरी कमियों के परिचायक हैं और इस धारणा की जो प्रतिक्रिया मेरे भीतर हुई वह मुझे केसरी से विमुख करने लगी। एक दिन सचमुच हम दोनों के बीच 'तू-तू मैं-मैं' की नौबत आ गई और उससे मेरा मिलना-बोलना छूट गया।

इसके बाद मैंने सुना कि वह नैनीताल चला गया है और वहीं किसी विद्यालय में पढ़ता है। दो वर्ष बाद जब मैं नैनीताल गया तो उसका अजीब ही ठाठ देखा। वह गैबेडीन की बहुत बढ़िया सूट, रेशमी टाई और चमचमाते हुए विलायती जूते पहने था। उसके सिर के बाल भी नये फैशन के अनुसार कटे थे। मुख का रंग एकदम पीला दिखाई देता था जैसे कमल वायु के रोग में ग्रस्त हो। पर उस पीलेपन से उसके मुख की कांति और श्री जैसे बढ़ गयी थी, ऐसा भ्रम होता था।

मैं ठंडी सड़क से होकर सान्ध्य-भ्रमण के उद्देश्य से मल्लीताल

की ओर चला जा रहा था। पाषाण देवी की चट्टानी मूर्ति के ठीक नीचे अकस्मात् उससे मेरा आमना-सामना हो गया। वह मल्लीताल की तरफ से आ रहा था। सड़क इतनी तंग थी कि बिना एक के कुछ हटे दूसरा आसानी से नहीं निकल सकता था। क्षण भर के लिये मैं उसे नहीं पहचान पाया पर तत्काल मेरी दो वर्ष पूर्व की स्मृति लौट आयी। इसके अतिरिक्त फैशन पसंदगी की बात मैं पहले ही सुन चुका था। पुराने झगड़े को भूलकर मैंने प्रसन्न भाव से उसका दाहना हाथ पकड़कर कहा :—ओ हो ! तुम यहाँ कहाँ ?"

वह कुछ संकुचित हो उठा। सलज्ज भाव से मुस्कुराता हुआ धीमे स्वर में बोला—"मैं आजकल यहीं हूँ।"

"कहाँ और किस कक्षा में पढ़ते हो ?"

"कहीं नहीं पढ़ता ?"

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। "क्यों ? मैंने तो सुना था कि तुम……स्कूल की नवीं कक्षा में पढ़ रहे हो।"

"पढ़ रहा था पर, पर फेल हो गया।"

"तो इस समय क्या कर रहे हो ?"

"अँगरेजों के एक होटल में नौकरी करता हूँ।"

"किस तरह की नौकरी ?"

"मैनेजर के सहायक के रूप में।"

"ओह, तब तो ठीक है। वेतन क्या देते हैं ?"

"अभी सौ रुपया दे रहे हैं।"

"ठीक, बहुत अच्छा है। मुझे खुशी हुई। पर क्या स्कूली पढ़ाई अब हमेशा के लिये बंद कर दोगे ?"

"कह नहीं सकता, अच्छा, नमस्कार !" कहकर उसने हाथ जोड़े और चल दिया।

मैं हैरान था। मैं सोचने लगा कि इतनी कम उम्र में यह विचित्र स्वभाव का लड़का स्कूली पढ़ाई से विमुख होकर अँगरेजी होटल में सौ रुपये महीने की नौकरी भी पा गया, जब कि बी०ए० एम० ए० पास वाले भी बेकार भटक रहे हैं! उसकी उम्र तब १६ वर्ष के लगभग रही होगी, पर तब वह अपनी अवस्था से कुछ बड़ा दिखायी देता था। पर स्कूली पढ़ाई के प्रति उसे इतनी जल्दी वैराग्य क्यों हुआ, यह मनोवैज्ञानिक रहस्य तब मेरी समझ में कतई नहीं आया। मैंने अनुमान लगाया कि उसके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रही होगी, इसलिये वह पढ़ाई छोड़कर जल्दी ही नौकरी के फेर में पड़ गया। पर मेरा यह अनुमान गलत था, जैसा कि बाद में मुझे मालूम हुआ। बाद में मुझे पता चला कि उसके घर के लोग काफी संपन्न हैं, और न तो वह किसी को रुपया भेजता है, न कोई उससे कुछ आशा ही करता है। उसके एक निकट संबन्धी बहुत बड़े सरकारी पद पर नौकर थे, और उसके लिए हर महीने सौ-डेढ़-सौ रुपया भेजा करते थे—इस इरादे से कि रुपये की कमी के कारण उसकी पढ़ाई में कोई रुकावट न आने पावे। वह किसी दूरस्थित स्थान में नौकरी करते थे और संभवतः उन्हें इसकी बात का कुछ भी पता नहीं था कि केसरी स्कूली पढ़ाई छोड़कर होटल में नौकरी कर रहा है। वह प्रति मास उसे रुपया भेजते चले जाते थे। वह सब रुपया और अपनी नौकरी से प्राप्त रुपया न जाने किन मदों में कहाँ उड़ा देता था।

इस रहस्य का उद्‌भेदन तब हुआ जब एक दिन संध्या के झुटपुटे में मैंने ऊपर की सड़क के नीचे केसरी को 'ग्रीन हाउस' के भीतर प्रवेश करते देखा। इतना मुझे मालूम था कि 'ग्रीन हाउस' में वेश्यायें रहती हैं। मैं चकित रह गया, और उसके प्रति घृणा से मेरा मन फिर एक बार विमुख हो गया। एक अदना सा छोकरा इस तरह के चक्करों में पड़े, यह

बात वास्तव में असाधारण मानसिक विकास (अर्थात् ह्रास) के दृष्टांत के रूप में मेरे सामने आयी।

फिर भी उसकी ओर से मेरी दिलचस्पी दूर नहीं हुई। स्वयं कभी उससे न मिलने पर भी मैं अपने मित्रों के द्वारा उसकी हरकतों का पता लगाता रहता। एक दिन सुनने में आया कि वह होटल से चार-पाँच सौ रुपया नकद और चार-पाँच सौ का सामान 'खटका' कर कहीं भाग गया है। होटल वालों ने उसके पीछे पुलिस दौड़ायी, पर कहीं उसका पता न लगा। बाद में यह भी मालूम हुआ कि उसके उच्च पदाधिकारी निकट संबन्धी महोदय ने होटल वालों की क्षतिपूर्ति करके मामले को दबा दिया।

उस घटना के प्रायः सात वर्ष बाद लखनऊ के एक सिनेमा में उससे मेरी भेंट हुई। तब तक जीवन के विविध अनुभवों के फलस्वरूप मेरे विचारों में बहुत अंतर आ गया था और मैं किसी भी नैतिक दृष्टि से गिरे हुए व्यक्ति के संबन्ध में यथासंभव 'उदार' दृष्टिकोण रखने के पक्ष में हो गया था। इसलिए इस बार मैं केसरी से मुक्तभाव से मिला। वह भी बड़े प्रेम से मिला और मुझे देखकर उसके चेहरे पर हार्दिक प्रसन्नता झलक उठी। वह रियासती ढंग का रेशमी साफा, आलपाका की शेरवानी, सफेद चूड़ीदार पाजामा और जयपुरी जूते पहने था। उसने एक टाटदार का होटल का नाम बताते हुए कहा कि वह वहाँ अमुक नम्बर के कमरे में ठहरा हुआ है। "कल चार बजे चाय तुम वहीं पीना," मुझे निमंत्रित करते हुए वह बोला।

दूसरे दिन मैं ठीक समय पर होटल में पहुँचा। वह 'ब्रीचेज' और बन्द कालर का जाकट पहने था। "आओ, आओ, तुमसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। कहो, क्या हाल है ? आज कल क्या करते हो ? लखनऊ कैसे आये ?" आदि प्रश्नों की झड़ी लगा दी उसने।

मैंने संक्षेप में उसके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया, और फिर कहा—"तुम अपना हाल तो बताओ! आजकल क्या करते हो?"

"कुछ नहीं। आवारागर्दी करता हूँ, जो कि मेरा सब दिन का पेशा है।"

"पर आवारे तो ऐसे ठाठदार होटल में नहीं रह सकते। ठीक-ठीक बताओ।"

"मैंने ठीक ही बताया है। आजकल बिलकुल बेकार हूँ। हाँ इसके पहले मैं......महाराजा के यहाँ नौकरी करता था। वहाँ की जो थोड़ी-बहुत कमाई शेष रह गई है उसी को जल्दी से जल्दी खतम करने की फिक्र में हूँ।"

"खतम करने की ऐसी जल्दी क्या पड़ी है?"

"जल्दी इसलिए है कि जब तक पिछली कमाई का रुपया समाप्त नहीं होता तब तक मैं कोई भी दूसरा काम कर सकने में असमर्थ हूँ।"

"दूसरा क्या काम करने का विचार है?"

"अभी तक कुछ भी नहीं है। पाँवों का चक्कर और मन का 'मूड' जहाँ भी ले चलेगा, और जिस स्थिति में भी कुछ समय तक के लिये जमा देगा उसीको खुशी से स्वीकार कर लूँगा। पर इतना निश्चित है बेकार नहीं रहूँगा—कहीं न कहीं कुछ समय का ठिकाना अवश्य ही लग जायगा।" एक खोखली हँसी हँसता हुआ वह बोला।

मैं उसकी बातें सुन रहा था, साथ ही उसकी दायीं आँख की पुतली के अनोखे घुमाव की ओर भी ध्यान दे रहा था।

"हुम्!" कहकर मैं गम्भीर भाव से उस असाधारण प्रकृति आवारे की विचित्र मानसिकता के सम्बन्ध में विचार करने लगा।

उसने 'ब्याय' से चाय मँगायी और उसके साथ कुछ खाने की चीजें भी। जब हम लोग खा-पी चुके तो वह बायें की घड़ी की ओर एक दृष्टि

डालकर बोला—"मुझे प्रायः एक घंटे के लिये एक जरूरी काम से जाना है। तुम बैठे रहो या आराम करो। जब मैं लौटकर आऊँगा तब दोनों टहलने चलेंगे। यह प्रस्ताव तुम्हें मंजूर है?"

मेरे पास कोई काम नहीं था। मैं स्वयं भी लखनऊ में आवारागर्दी का जीवन बिताने गया हुआ था। इसलिए संध्या को उसका साथ मिलने के प्रलोभन से मैं उसके प्रस्ताव पर राजी हो गया। वह उसी पोशाक में बाहर निकल गया जिसे वह पहने था।

कमरे के एक कोने में एक कुर्सी के ऊपर 'टिट बिट्स' के तीन चार पिछले अंक रखे हुए थे। उन्हें उठा कर मैं एक आराम कुर्सी पर अधलेटा होकर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते जी ऊब गया और मैं ऊँघने लगा। संभवतः कुछ देर तक के लिए मैं सो गया।

"आहा! हा! हा! हा! बड़ा मजा आ गया, भाई!"

मैं अर्द्धनिद्रा से चौंक उठा। देखा, सामने केसरी अपने अनोखे, खोखले स्वर में अट्टहास कर रहा है!

"क्यों क्या हुआ?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"अरे भाई, कुछ पूछो मत! हा! हा! हा!"

इसके बाद भी वह कुछ देर तक खड़ा खड़ा, अपने अंग को विभिन्न रूप से मरोड़ता हुआ खोखला अट्टहास करता रहा। उसकी उस हँसी की लहर को रोकना बेकार समझ कर मैं चुप रहा।

जब हँसी का दौरा शान्त हुआ तब वह मेरे पास ही एक कुर्सी पर बैठकर बोला—"मेरे कुछ पुराने-परिचित कुछ दिनों से इस फेर में थे कि मैं उन्हें खिलाऊँ-पिलाऊँ। किसी को खिलाने-पिलाने में मुझे कभी कोई आपत्ति नहीं रही, यह शायद तुम भी जानते हो। इधर कुछ दिनों से मैं प्रायः नित्य अपने इन 'मित्रों' को खिलाता पिलाता भी था और अपने ही पैसों से सिनेमा भी दिखाता था। पर

जब वे लोग मुझसे अलग होते तब आपस में यह कहते—'साले को अच्छा बेवकूफ बनाया है।' मेरे एक घनिष्ठ साथी ने एक दिन मुझे इसकी सूचना दी और इस बात के लिये दुःख और आश्चर्य प्रकट किया कि मैं क्यों ऐसे नीचों के लिये पैसा खर्च करके अंत में अपने को बेवकूफों में शुमार कराता हूँ। मैंने अपने साथी को आश्वासन दिया कि मैं एक दिन निश्चय ही अपने 'मित्रों' से इसका बदला चुकाऊँगा। आज वह बदला चुका आया हूँ! हा! हा! हा!"

मैंने शांत भाव से पूछा—"किस रूप में चुकाया तुमने बदला?"

"मैंने कल उन लोगों से कहा कि मैं उन्हें अंगरेजी ढंग के एक शानदार होटल में दावत दूँगा। आज मैं जब गया तो वे लोग होटल के फाटक पर खड़े थे। उनकी उत्कंठित आँखों से प्रकट होता था कि वे लोग स्पष्ट ही बड़ी उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखते ही अत्यन्त पुलकित हो उठे। मैंने कहा 'आप लोग यहाँ क्यों खड़े हैं? सीधे भीतर क्यों नहीं चले गये! आइये! मैं उन लोगों को सीधे होटल के रेस्तोरां के भीतर ले गया। हम लोग कुल मिला कर आठ आदमी थे। वर्दीधारी 'ब्वाय' बाकायदा सलाम झुकाकर आर्डर के लिये मेरे सामने खड़े हो गये। मैंने अपनी मित्र-मंडली में से एक सज्जन से कहा—'जो कुछ आप लोग चाहते हों उसके लिये आर्डर दीजिये! आप लोगों के मन के अनुरूप ही सब कुछ होना चाहिये।' वह सज्जन मेरे पीठ-पीछे मुझे 'बेवकूफों, में शुमार करने वालों में सबसे प्रमुख थे। केवल मुझे ही नहीं, बल्कि वह दुनिया भर को 'बेवकूफ' बनाने की फिक्र में रहते थे और अपने को चतुरों के भी चतुर मानते थे। यह जानकर कि जो कुछ भी आर्डर दिया जायगा उसका बिल मैं ही चुका दूँगा (जैसा कि आज तक वास्तव में चुकाया भी करता था) वह 'मेनू' देखकर महँगी से महँगी शराबों और कीमती 'डिशों' के लिये आर्डर देते रहे। वे लोग पान और भोजन में तल्लीन हो गये। मैंने केवल एक घूँट

शराब पी और एक टुकड़ा 'कटलेट' का खाया, बस उसके बाद उन लोगों को तन्मय अवस्था में छोड़कर 'बॉथ रूम' में जाने के बहाने पिछवाड़े के रास्ते से होकर जिससे कि मैं पहले ही से परिचित था सीधा यहाँ चला आ रहा हूँ। हा! हा! हा! बिल अस्सी रुपये से कम का न होगा और वे लोग सब ठिकरफरोश हैं। बाहरी ठाट पूरा बनाये रहते हैं, भीतर से बिलकुल खोखले हैं। उन सब के पास मिलाकर तीस चालीस रुपया भी शायद ही निकले। निश्चय ही उन सज्जन को अपनी ससुराल में मिली सोने की घड़ी गिरों रखनी होगी जो मेरी ओर से आर्डर दे रहे थे। क्योंकि ब्याय निश्चय ही उन्हीं का गला पकड़ेगा। निकल जायगी सारी चतुराई बचा जी की! हा! हा! हा!"

केसरी के इस प्रतिहिंसात्मक परिहास वाले रूप से मैं इसके पहले परिचित न था। मैं दंग रह गया। मौन भाव से केवल 'शिष्टाचार' वश मंद-मंद मुस्कराता रहा।

कुछ देर बाद जब केसरी की हंसी का 'मूड' जाता रहा, तब स्वाभाविक गंभीरता के साथ बोला—"चलो, कहीं टहल आवें।" चूँकि मुझे कहीं न-कहीं समय बिताना था इसलिये मैंने कहा "चलो!"

"मैं पाँच मिनट में कपड़े बदल लेता हूँ।"

थोड़ी देर में वह विशुद्ध रेशम का सूट पहन कर तैयार हो गया। ब्याय को एक ताँगा ले आने के लिये आदेश दिया गया। जब ताँगा आ गया तो कमरे में बिना ताला लगाये वह मेरे साथ नीचे उतर पड़ा। मैंने चिंतित होकर कहा—"तुम्हारा बहुत सा कीमती सामान भीतर पड़ा हुआ है, कोई गायब कर दे तब?"

"इस बात की चिन्ता न करो", इस तरह मुस्कराते हुए उसने कहा जैसे कोई सयाना आदमी किसी बच्चे के अज्ञान-भरे प्रश्न पर स्नेह-भाव से मुसकरा रहा हो—"मेरा ब्याय यद्यपि मुसलमान है पर है बड़ा ईमानदार। मैं कई बार इस होटल में ठहर चुका हूँ और कभी मैंने अपने

कमरे में ताला न लगाया। कभी एक सेफ्टीपिन तक की चोरी नहीं हुई। हर बार मैं इसी गुलामअली को सब कुछ सौंप देता रहा हूँ। और सबसे बड़ी बात यह है"—मेरे साथ ताँगे पर सवार होता हुआ वह कहता चला गया—"कि बिना एक दूसरे पर विश्वास किये दुनिया का काम चलता कैसे है? यह बात बहुत कोशिश करने पर भी मैं अभी तक समझने में असमर्थ रहा हूँ। मेरी बुद्धि में यह बात किसी तरह जमती ही नहीं। यह ठीक है कि दुनिया का काम ताला लगाने के बावजूद चल रहा है, और मेरे समान 'असावधान' व्यक्तियों की संख्या दुनिया में अधिक नहीं है। फिर भी मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह अविश्वास ही संसार में झूठ, दगाबाजी, फरेबी, चोरी और गुंडई फैलने का मूल कारण है......।"

"कहाँ चलना होगा, हुजूर" ताँगे वाले बुड्ढे मियाँ ने पूछा।

"चौक की तरफ चलो!" अनमने भाव से केसरी बोला।

ताँगा चल पड़ा। केसरी अपनी विचार-धारा में जैसे बह चलने के लिये आकुल हो रहा था। "मैं तुमसे सच कहता हूँ," वह कहता चला गया—"मुझे जीवन में विकट से विकट दुष्कर्मियों—जरायम पेशा व्यक्तियों—से पाला पड़ा है। मैंने उन सब पर पूर्ण विश्वास किया है, और विश्वास मानो, मुझे शायद ही कभी धोखा मिला हो। जो लोग चोर, बदमाश या गुंडे माने जाते हैं उनका मनोविज्ञान कुछ विचित्र ही होता है। मैंने सुना है, तुम मनोविज्ञान के पंडित हो इसलिये तुम्हें अवश्य ही उन लोगों की मानसिक क्रिया के संबंध में जानकारी होनी चाहिये—हालाँकि तुम जैसे कोरे किताबी मनोविज्ञान के पंडितों के प्रति मेरी अधिक आस्था नहीं है। कुछ भी हो, मैं कह रहा था चोरों और बदमाशों के मनोविज्ञान की बात। उन लोगों के बराबर बुद्धि और समझ की पैठ मैंने बहुत कम लोगों में पायी है। वे लोग बड़े दार्शनिक भी होते हैं—हलाँकि उनका जीवन-दर्शन किसी भी मान्य दार्शनिक

मान से मेल नहीं खाता। संसार के प्रति उन लोगों के मन में प्रतिहिंसा का भाव अवश्य वर्तमान रहता है। पर उसका कारण केवल यह है कि वे संसार को अपने प्रति अविश्वासी पाते हैं। जिन सांसारिक असुविधाओं के बीच में उनका जन्म और पालन-पोषण होता है उनके प्रति संसार —विशेषकर बूर्जवा संसार एकदम उदासीन रहता है। अपनी हीन सांसारिक परिस्थितियों के कारण जो मानसिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक नियम से उनके भीतर होती है उसके प्रति बूर्जवा संसार तनिक सहानुभूतिशील नहीं होता, और जब अपनी उन्हीं विवश परिस्थितियों और मानसिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उनका व्यवहार कुछ संदेहात्मक हो उठता है तो उन्हें संसार कतई क्षमायोग्य नहीं मानता। उन्हें दंडित करने के कड़े से कड़े विधान बनाये जाते हैं। और सरकार और जनता दोनों की कड़ी आँखें सब समय उनके ऊपर रहती हैं। इसका फल यह होता है कि वे सुधरने के बजाय प्रतिहिंसात्मक हो उठते हैं, और विशेषकर सभी सामाजिक विधानों से सुरक्षित बूर्जवा वर्ग के प्रति उनकी वह प्रतिहिंसा अत्यन्त कटु और कुटिल रूप धारण कर लेती है। उनके भीतर की सहज बुद्धि बड़ी पैनी होती है। वे एक क्षण के अनुभव से जान लेते हैं कि कौन व्यक्ति उनके प्रति सहानुभूतिशील है और कौन संदेहशील। जो व्यक्ति जितना ही संदेह करने वाला होता है उसके प्रति उनकी प्रतिहिंसा उतनी ही प्रबल रूप धारण कर लेती है। और अपनी प्रतिहिंसा को व्यावहारिक रूप दिये बिना उन्हें चैन नहीं मिलता, भले ही उसके लिये उन्हें विकट से विकट खतरे क्यों न उठाने पड़ें। तुमने अक्सर ऐसे व्यक्तियों के बारे में सुना होगा जो सात-सात-बार जेल में कड़ी कैद भुगतने पर भी फिर चोरी या गुंडई के अपराध में पकड़े जाते हैं। आजीवन कारावास—बल्कि फाँसी की सजा की संभावना से परिचित रहने पर भी वे अपनी प्रतिहिंसात्मक कार्रवाइयों से बाज नहीं आते। जिस प्रकार कुछ 'महात्मा' टाइप के

व्यक्ति सत्य और अहिंसा के पालन द्वारा समाज-सेवा, जन-हित अथवा राष्ट्रोद्धार को अपने जीवन का ध्येय बनाये रहते हैं और आजीवन बड़ी से बड़ी कठिनाइयों और संघर्षों का सामना करते हुए भी अपने उस ध्येय में चट्टान की तरह अलग रहते हैं, उसी प्रकार ये तथाकथित दुष्कर्मी भी बड़े से बड़े खतरों को सहर्ष स्वीकार करते हुए अपने जीवन के ध्येय—सामाजिक विधानों के प्रति विद्रोह—के प्रति अटल रहते हैं। उन सामाजिक विधानों के प्रति विद्रोह की बात मैं कह रहा हूँ जो उनके मन से केवल सुख-संपन्न व्यक्तियों के संरक्षण के लिये उन्हीं के वर्ग द्वारा बनाये गये हैं और जिनमें जीवन के कठोर और अस्वाभाविक परिस्थितियों से पीड़ित व्यक्तियों के संरक्षण के लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं रखी गयी है। इसलिये यह निश्चित है कि इन चोरों, बदमाशों और दूसरे तथाकथित दुष्कर्मियों का सुधार सामाजिक या सरकारी दंड-विधानों द्वारा असम्भव है। उनका सुधार केवल एक ही उपाय से हो सकता है—उनके प्रति विश्वास और सहानुभूति का सामूहिक मनोभाव उत्पन्न करने से।"

मैं तद्गत भाव से उसके उस विचित्र दार्शनिक प्रवचन को सुन रहा था। कुछ ही समय पहले जो व्यक्ति अपने मित्रों को धोखा देकर जान बूझकर उन्हें दुर्गति की चरम स्थिति में छोड़कर अपनी करतूत से स्वयं पुलकित होने का भाव जता रहा हो, उसके मुँह से समाज-सुधार संबन्धी लम्बी-चौड़ी और साथ ही अत्यन्त गंभीर विवेचनापूर्ण बातें वास्तव में अत्यन्त आश्चर्यजनक लग रही थीं। मैं नहीं समझ पा रहा कि मेरी बगल में बैठा हुआ व्यक्ति नम्बरी धूर्त है या वास्तव में एक उच्च स्तर के व्यावहारिक जीवन-दर्शन से प्रभावित उदारचेता मानव है।

बहुत से चक्करों के बाद ताँगा जब चौक की तंग सड़क के भीतर घुसा तब मेरी अन्यमनस्कता दूर हुई। मैंने पूछा—"यहाँ तुम्हारा क्या काम है?"

"आज तुम्हें एक ऐसे व्यक्ति से मिलाना चाहता हूँ जिसके संसर्ग में आने से तुम किताबी मनोविज्ञान से नीचे उतर कर वास्तविक जीवन के कुछ गहरे अनुभवों से परिचित हो सकोगे।"

मैं उस वर्ष पहली बार लखनऊ गया हुआ था, और मुझे वहाँ के भीतरी और बाहरी चक्करों का कुछ भी पता नहीं था। इसलिए मैंने उसकी रहस्य-भरी बात को बड़े सीधे ढंग से लिया और अपनी मौन सम्मति दे दी।

एक अपेक्षाकृत ऊँचे मकान के बीच ताँगे को रुकवाकर उसने मुझसे उतरने को कहा और स्वयं भी उतर पड़ा। नीचे से होकर वह बड़ी तेजी से ऊपर चढ़ गया। मैंने उसका अनुसरण किया। ऊपर पहुँच कर उसने एक कमरे का दरवाजा खटखटाया। थोड़ी देर बाद कमरा खुला। कमरा खुलते ही जिस अभूतपूर्व प्रतिमा के दर्शन हुए उसका चित्र अभी तक मेरी मानसिक आँखों के आगे स्पष्ट है। सुंदर? हाँ वह अवश्य सुंदरी थी। उम्र भी उसकी २० वर्ष के आस-पास की रही होगी। पर उसकी सुंदरता का प्रभाव मेरी विवेचना पर नहीं पड़ा जितना उसके मुख की सरल स्निग्ध, सहृदयतापूर्ण अभिव्यक्ति का उसकी मंद मधुर मुसकान में कपट का लेश भी वर्तमान नहीं था। सहज स्वभाविक सौहार्द की सरलता उसकी बड़ी-बड़ी, सुंदर, स्नेह-तरल आँखों में छलक रही थी। जैसे समस्त विश्व में निश्छल स्नेह बरसाने के लिए ही उन भोली-सी आँखों ने जन्म लिया हो।

"आप हैं?" अपने दो पतले से ओठों को हिलाते हुये और दाँतों की सुंदर, संतुलित सफेद पंक्ति को झलकाते हुए उसने धीरे से कहा। उसकी आँखें केसरी का हार्दिक स्वागत कर रही थीं। मेरी ओर केवल एक झलक देखकर वह फिर केसरी की ओर देखने लगी—जैसे मेरे अस्तित्व का कोई मूल उसके लिए नहीं था।

"यह मेरा मित्र है। चलो जोशी, भीतर चलें।"

"आइये," शिष्टाचार पूर्वक मेरी ओर हाथ जोड़ती हुई सुंदरी बोली। इतने में दो महिलाएँ अगल-बगल से और आ गयीं, और "पांडे बाबू! पांडे बाबू!" कहकर उन्होंने दोनों ओर से केसरी को घेर लिया। उन दो महिलाओं के पोशाक पहनावे में एक ऐसी विशेषता मैंने देखी जिससे मेरा माथा ठनका और तत्काल मुझे याद आया कि नैनीताल में केसरी 'ग्रीन हाउस' में जाया करता था। मैं ठिठककर और सँभल कर एक कोने में खड़ा हो गया —कुछ अज्ञात विरोधी तत्वों से अपनी रक्षा के निमित्त अपने भीतर शक्ति बटोरने लगा। उस विशेष प्रकार के वातावरण के बीच में खड़े होने का मेरे लिये जीवन में पहला अवसर था।

केसरी जूता उतार कर बेतकल्लुफ भीतर चला गया और मुझसे भी बेतकल्लुफ भीतर चले आने को उसने कहा। पर मैं जहाँ का तहाँ खड़ा ही रहा। एक कदम भी आगे बढ़ाने का साहस मुझे नहीं हुआ।

"बाहर कब तक खड़े रहोगे? भीतर आते क्यों नहीं?" वह बोला।

पर मैं बेवकूफों की तरह खड़ा ही रहा। न भीतर गया और न लौटकर बाहर ही गया।

केसरी मेरा वह विचित्र ढंग देखकर स्वयं बाहर चला आया और उसने मुझसे धीरे से पूछा "बात क्या है?"

"मैं भीतर नहीं जाऊँगा। यहाँ से लौट जाना चाहता हूँ।"

"क्यों?" कुछ खीझ भरे स्वर में उसने कहा।

"यों ही।"

"अच्छी बात है। जब तुम्हारी यही जिद है तो चलो, मैं भी वापस चलता हूँ।" यह कहकर वह जूता पहनने लगा। भीतर से नवीना नारी विस्मय-विभ्रांत दृष्टि से एक बार केसरी की ओर और एक

बार मेरी ओर देखने लगी।

"मैं कल फिर आऊँगा, राधा, आज एक जगह कुछ जरूरी काम से जाना है।" यह कहकर वह मेरा हाथ पकड़कर बोला—"चलो!"

"मैंने एक बार सरसरी दृष्टि से राधा की ओर देखा। उसकी निराश आँखों में एक निश्छल वेदना छलक आयी थी। मैंने केसरी से कहा—'तुम यहीं रहो। मैं चलता हूँ।"

"ऐसा नहीं हो सकता—तुम मेरे साथ आये हो, तुम्हें मैं अकेले नहीं जाने दे सकता। चलो!" कहकर वह मेरा हाथ पकड़कर प्रायः घसीटता हुआ जीने से नीचे ले गया।

ताँगे पर सवार होकर जब हम लोग लौट चले तो मैंने उससे पूछा कि वह लड़की कौन थी।

"वह राधा थी, नैनीताल से आयी है। बड़ी अच्छी और भोली लड़की है। प्रायः तीन साल से उससे मेरा परिचय है।"

"यहाँ क्या करती है?"

"वह पेशेवर लड़कियों के बीच में रहती अवश्य है, पर स्वयं पेशेवर नहीं है—कम से कम मेरी यही धारणा है। हाँ, एक उस्ताद से क्लासिकल गाना वह अवश्य सीखती है। इसके अलावा वह एक मौलवी से फारसी और एक पंडित से संस्कृत भी सीखती है। एक मास्टर उसे घर ही पर अंग्रेजी भी पढ़ाता है। फिल्म-लाइन में शरीक होकर विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा उसमें पायी जाती है। मेरे प्रति वह विशेष कृपालु है।"

"हुम्! तब तो तुम निश्चय ही अपने को भाग्यशाली समझते होगे। पर क्या मैं यह जान सकता हूँ कि इन पेशेवर लड़कियों के संबन्ध में तुम्हारे क्या दार्शनिक सिद्धांत हैं?" मेरे इस वाक्य से व्यंग की गंध मेरे दबाने के बावजूद निकल आयी थी।

"मेरा यह विश्वास है कि पुरुष जाति के अत्याचारों के विरुद्ध नारी

जाति की सामूहिक प्रतिहिंसा अपनी अभिव्यक्ति का कोई स्वाभाविक निकास न पाकर इस विकृत रूप में परिस्फुट हुई है। यह सही है कि नारी वेश्या नहीं है, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वेश्या नारी है। अपने विवशता-जनित विकृत रूप में भी वह नारी का प्रतिनिधित्व किसी न किसी हद तक करती ही है। नारी जब कड़े से कड़े सामाजिक विधानों के बंधन में बँध कर स्वार्थी पुरुष-जाति के आगे सब तरफ से परास्त हो गयी तब उसने अपने पतन के भीतर ही प्रतिहिंसा का अस्त्र खोजा। वेश्या-व्यवसाय वही अस्त्र है, जो पुरुषों के आगे अत्यन्त मोहक रूप धारण किये हुए उन्हें विनाश के गहन गर्त में ढकेलते रहने के प्रयत्नों में जुटी रहती है।"

"तब इसके लिये पुरुष जाति को दोष क्यों दिया जाता है?"

"इसलिये कि उसने नारी की स्वतंत्रता की सहज प्रवृत्ति को उन्नत उपायों द्वारा चरितार्थ किये जाने के सब रास्ते बन्द कर दिये और स्वतंत्र बनने का एक मात्र यही आत्म-गवन का उपाय उसके लिये रह गया। यह सभ्यता के प्रारम्भिक युग की बात है जिसकी परंपरा किसी न किसी रूप में आज तक चली आती है। पर अब नये युग में नारी ने अपनी स्वतन्त्रता के कुछ दूसरे रास्ते भी खोज निकाले हैं और अब वह नये-नये रास्तों की खोज में जुट गयी है। तब तक वह इस खोज में संलग्न रहेगी जब तक वेश्या-व्यवसाय संसार से पूर्णतया लुप्त न हो जाय।"

"तो यह कहो कि तुम वेश्या-व्यवसाय के पोषकों में नहीं, बल्कि उसके निवारकों और सुधारकों में हो?" एक दूसरा नुकीला अस्त्र मैंने छोड़ा।

"बिलकुल यही बात है।"

"तब तुम क्यों उनके बीच में जाकर, अपना रुपया फूँककर उनको परोक्ष में पेशे के लिये प्रोत्साहित करते हो?"

"मैं क्यों जाता हूँ, वह मैं यदि समझाऊँ भी तो तुम समझ नहीं पाओगे, इसलिए इस समय इस विषय की चर्चा ही व्यर्थ है। अब बताओ, किसी सिनेमा में चलोगे या सीधे होटल को वापस चले चलें?"

"मुझे मेरे होटल पहुँचा दो, उसके बाद तुम्हें जहाँ जाना हो चले जाना।"

उसने मुझे अपने होटल में चलने के बहुत आग्रह किया, पर मैं उसके साथ से अघा चुका था, इसलिए अपने ही होटल के लिये मैंने आग्रह किया।

मुझे मेरे होटल तक पहुँचा कर वह फिर कुछ देर तक मेरे साथ गप-शप करना चाहता था, पर मैंने प्रोत्साहित नहीं किया, और वह चला गया।

दूसरे ही दिन मैं उससे बिना मिले ही लखनऊ छोड़कर चला गया। उसके बाद फिर एक लम्बे अर्से तक मेरी भेंट नहीं हुई।

× × ×

१९३० का सत्याग्रह आंदोलन पूरे जोरों पर था। नगर-नगर, जिले-जिले में एक के बाद एक 'डिक्टेटर' मैदान में आ कूदता था और एक नेता की गिरफ्तारी होते दूसरा नेता तत्काल किसी अज्ञात गुहा से आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेता था। किस नियम से, कौन व्यक्ति, कब सहसा 'डिक्टेटर' के पद को सुशोभित कर बैठता था। यह जानना कठिन था। स्वतंत्रताकांक्षा की लहर विचित्र तूफानी झोंकों से सत्याग्रहियों की बाढ़ पैदा कर रही थी।

उसी अवसर पर मैंने एक दिन संवादपत्रों में पढ़ा कि 'डिक्टेटर केशरीशरण पांडे' शिमले के सत्याग्रहियों का नेतृत्व बड़ी योग्यता, अपूर्व साहस और अद्भुत आत्मत्याग के प्रदर्शन द्वारा कर रहे हैं। अपने

बाल्यकालीन मित्र केसरीशरण के सत्याग्रही डिक्टेटर की संभावना की कोई कल्पना ही मेरे मन में नहीं उठनी चाहिए थी। उसकी आत्म-विलासी प्रकृति या चारित्रिक दुर्बलता, सभी प्रकार के नैतिक संयम तथा नियम का निपट अभाव, विलायती ठाठ से प्रेम—आदि सभी स्वभावगत विशेषताओं से मेरा परिचय खूब अच्छी तरह होने से यह अनुमान करना कठिन था कि वह सत्याग्रह संग्राम में केवल भाग ही नहीं ले रहा, बल्कि एकदम डिक्टेटर बन गया है। (और वह भी शिमले के समान एक प्रतिष्ठित और काफी बड़े स्थान का !) फिर भी नाम का साम्य ऐसा था कि बरबस मेरा मन उस समाचार के प्रति आकर्षित हो गया। तब से प्रतिदिन संवादपत्रों में नियमित रूप से केसरीशरण पांडे 'डिक्टेटर आफ शिमला' की कार्रवाइयों का विस्तृत विवरण छपा हुआ मिलता। मैं अपने कुतूहल को दबा न सका। अपने एक शिमला स्थित मित्र को एक पत्र लिखा और पूछा कि यह केसरीशरण कौन हैं और कहाँ के हैं ? जो उत्तर मिला उससे इस संबन्ध में मेरा संदेह जाता रहा कि शिमले के 'अभूतपूर्व पराक्रमी' डिक्टेटर महोदय मेरे ही मित्रवर पं० केसरीशरण पांडे हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि उस सूचना से मेरे भीतर गर्व और पुलक की एक दुर्निवार हिलोर उमड़ उठी और मेरी आँखें बरबस हर्ष-जनित बाष्प से छा गयीं।

और एक दिन यह संवाद भी पढ़ा कि शिमला के डिक्टेटर महोदय गिरफ्तार हो गये हैं।

इसके प्रायः दो वर्ष बाद मैं कुछ दिनों के लिये कलकत्ते से इलाहाबाद आया हुआ था और अपने एक मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था। जाड़े का मौसम था। एक दिन बाहर के कमरे में पलंग पर लेटे लेटे मैं, सुबह की चाय पी चुकने के बाद, धीरे-धीरे आराम से हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। इतने में किसीने बाहर से दरवाजा खटखटाया। मैंने अनिच्छापूर्वक बिस्तर से उठकर दरवाजा खोला। काश्मीरी पट्टू की

शेरवानी, उसीका चूड़ीदार पाजामा और उसीकी टोपी पहने एक व्यक्ति ने मुझे देखकर हाथ जोड़े। मैंने भी उसे बिना पहचाने शिष्टाचार वश हाथ जोड़ दिये। ताँगेवाले ने चमड़े का एकबक्स और 'देशी' होलडाल से बँधा हुआ एक बिस्तर ताँगे पर से उठाकर भीतर रख दिया। अजनबी ने ताँगे का भाड़ा चुका कर उसे विदा कर दिया, और स्वयं इतमीनान से भीतर आकर एक कुर्सी पर बैठ गया। अनजान व्यक्तियों से स्वयं ही पहले बात चलाने की आदत मेरी कभी नहीं रही है। इसलिए मैं बिना कुछ बोले इतमीनान से हुक्का पीता रहा। अजनबी महोदय भी मौन बैठे रहे।

कुछ देर बाद भीतर से वह महाशय आये जिनका मैं अतिथि बना हुआ था। अजनबी महाशय को देखते ही उन्होंने पहचान लिया और प्रेमपूर्वक उनकी ओर हाथ जोड़ते हुए पूछा—"कब आये?"

"अभी आ रहा हूँ," अजनबी महाशय बोले।

इसके बाद फिर कोई बात दोनों के बीच नहीं हुई। शिष्टाचार की कमी मुझमें थी ही, अपने मेजबान महाशय में भी मैंने वही कमी पायी थी। जब हम सब लोग (नये आये हुये सज्जन भी) खाना-वाना खा चुके और जिन महाशय के यहाँ मैं ठहरा था वह दफ्तर चले गये, तब नवागत सज्जन ने पहली बार मुझसे प्रश्न किया—"तुम यहाँ कब से हो?"

एक अपरिचित व्यक्ति को "तुम" कहकर संबोधित करते हुए सुनकर मुझे प्रसन्नता नहीं हुई, फिर भी मैंने, नम्रतावश उत्तर दिया—"आज प्रायः एक सप्ताह हो गया।"

"कहाँ से आये हो, कलकत्ते से!"

"जी हाँ, पर आपने कैसे जान लिया?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"मैं बराबर तुम्हारी गतिविधि से संबन्धित सूचनाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा हूँ।"

"आपका शुभ नाम ?"

"केसरीशरण पांडे, क्या इतनी जल्दी भूल गये।"

"ओ हो ! तुम ? केसरीशरण पांडे ?" बिस्तर पर उचककर बैठते हुए मैंने कहा—"यार तुम्हारा तो जैसे काया ही पलट गयी है। सचमुच मैं अभी तक तुम्हें पहचान न पाया, और यदि तुम न बताते तो कभी न पहचान पाता ! कहो, आज कहाँ से आ धमके ? इतने दिनों तक क्या करते रहे ? जेल से कब छूटे ?"

"प्रायः दो सप्ताह पूर्व मैं मेरठ जेल से छूटा। जेल से छूटकर कुछ दिन मेरठ के ही एक होटल में आराम करता रहा। अब यहाँ आ पहुँचा हूँ—यों ही। सोचा अपने कुछ परिचित मित्रों से मिल लूँ। तुम्हारे यहाँ होने की कोई कल्पना मैंने नहीं की थी। चलो, अच्छा हुआ, तुम भी मिल गये।"

"ओ हो, मित्र ! आज तुम बड़े मौके से अप्रत्याशित मिले हो। तुम से यहाँ भेंट होने की कोई कल्पना ही मैं नहीं कर सकता था। तुम्हारी डिक्टेटरी का समाचार तो मैं रोज पढ़ता था और जेल जाने की खबर भी मुझे मालूम हो गयी थी, पर उसके आगे का कोई हाल मालूम नहीं था। अच्छा यह तो बताओ कि तुम डिक्टेटर बन कैसे गये।"

अपनी चिर-परिचित खोखली हँसी हँसता हुआ और दाहिनी आँख की पुतली को विशेषरूप से घुमाता हुआ वह बोला—"अरे भाई, यह एक बड़ा दिलचस्प किस्सा है। बात यह हुई कि एक दिन एक प्रतिष्ठित घराने की गुजराती लड़की, जो काँग्रेस में बहुत कुछ कार्य कर चुकी थी, हमारे होटल में चली आयी। मैं शहर के एक प्रमुख होटल में ठहरा हुआ था। मेरा कमरा खुला हुआ था और मैं भीतर एक कोच पर लेटा हुआ एक उपन्यास पढ़ रहा था। लड़की ने बाहर से कहा—'क्या मैं आ सकती हूँ ?' मैं उठ खड़ा हुआ और बोला—'चली आइये।' खद्दरधारिणी वह लड़की बेझिझक मेरे कमरे में घुस आयी और एक

कापी मेरी ओर बढ़ाती हुई बोली—"आप भी सत्याग्रहियों के पीड़ित परिवारों के लिए कुछ चन्दा दीजिए।' मैं स्वभावत: झिझका। पर लड़की जैसी ही ढीठ थी वैसी ही सुन्दरी भी, उसे अप्रसन्न करने का साहस मुझे नहीं हुआ। मैंने कहा—'चन्दा अवश्य कुछ दूँगा, पर इस शर्त पर कि मेरा नाम तनिक भी न खुलने पाये।' लड़की व्यंग्य के साथ मुस्करायी। बोली—'यदि आप नहीं चाहते तो विश्वास रखिये, आपका नाम प्रकट न होने दिया जायगा। पर मैं जानना चाहती हूँ कि आप क्यों इतना डरते हैं? सरकार के नजरों में गिरना या जेल जाना, क्या यह गुलामी की धूल सिर पर उठाये रखने से भी बड़ी सजा है? जो हजारों वीर योद्धा अपनी सारी सुख-सुविधाओं को तुच्छ करके हँस-हँसकर बलिदान की वेदी पर चढ़ रहे हैं, क्या उनकी साधना का कोई मूल्य आपके लिए नहीं है? उससे क्या तनिक भी प्रेरणा आपको नहीं मिल पाती?' लड़की के मुख से मुस्कान एकदम गायब हो गयी थी और उसका चेहरा आवेश से तमतमा उठा था। मैंने काँग्रेसियों की साधना के संबन्ध में इसके पहले बड़े-बड़े व्याख्यान सुने थे, पर ऐसी प्रभावपूर्ण धिक्कार-भरी वाणी सुनने का यह पहला ही अवसर था। मैं अपराधियों की तरह खीसें निपोड़े हुए चुप खड़ा रहा। लड़की विकट विद्रोह भरे स्वर में प्राय: गरजती हुई कहती चली गयी—'देश में चारों ओर आग लगी हुई है और आप लोग विदेशियों द्वारा परिचालित इस होटल में घृणित विलासिता में गले-गले डूबे हुए हैं और आप लोगों के प्राणों की अनुभूति इस हद तक जड़ बन गयी है कि उसमें राष्ट्र की सामूहिक पीड़ा का रंच मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ पाता! क्या सचमुच आपके भीतर जीवन की चिनगारी इतनी भी शेष नहीं है कि उसे सुलगाया जा सके और वह गुलामी की चिता की तरह धधक उठे?' मैंने देखा कि लड़की की आँखों से सचमुच जैसे गुलामी की चिता की चिनगारियाँ भी निकल रही थीं। मैं तुमसे सच कहता हूँ, उसकी उस धिक्कार भरी गर्जना से मेरे प्राणों के भीतर

पहले तो घबराहट की एक अजीब-सी कँपकँपी दौड़ गयी, और फिर एक ऐसी भयंकर उथल-पुथल मचने लगी, जो मेरे लिए एक बिलकुल नयी बात थी। तुम जानते हो, मैं भावुक नहीं हूँ, और जीवन के बड़े बड़े तूफ़ानी चक्करों में भी मैं अपने मन को एकदम शांत और मस्तिष्क को ठंडा रखने का आदी रहा हूँ, पर उस दिन उस अनजान लड़की ने केवल पाँच ही मिनट के भीतर अचानक, मेरे भीतर जो तहलका मचा दिया, उस पर आज स्वयं मुझे ही विश्वास नहीं हो पाता ! मैंने अत्यन्त गंभीर भाव से उसके प्रति हाथ जोड़े और कहा—'मुझपर आपकी बातों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि आप मुझे जो-कुछ भी आज्ञा दें उसे इसी क्षण पालन करने के लिए तैयार हूँ।' लड़की के मुख पर मीठी मुसकान झलक आयी। उसने कहा—'तब आप आज ही विदेशी ठाट छोड़कर खद्दर पहनना आरंभ कर दें और कॉंग्रेस के सदस्य बनकर सत्याग्रह में भाग लें। अपने सभी विदेशी कपड़ों की होली जला दें।' मैंने कहा—'जैसी आपकी आज्ञा। पर आप मुझे दो दिन की मोहलत तो देंगी ही, क्योंकि इतने से कम समय में मैं अपने लिए खद्दर के कपड़े नहीं सिलवा सकता।'

"वह फिर मुस्करायी। बोली—'अच्छी बात है। पर देखियेगा, दो दिन से तीसरा दिन न लगने पाये !' यह कहकर उस लड़की ने हाथ जोड़े और जाने लगी। मैंने रोकते हुए कहा—"चन्दा तो लेते ही जाइये !" वह बोली—'मैं परसों फिर आऊँगी। यह न सोचिये कि आप यों ही सस्ते में छूट जायँगे। सबसे बड़ी चन्दा-वसूली तो मेरे लिये यह होगी कि आप ने जो वचन अभी दिया है, उसे पूरा करें।' 'आप देखियेगा,' मैंने कहा। वह फिर एक बार हाथ जोड़कर चली गयी। उसके चले जाने पर मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि वह होटल के कड़े पहरे को भेदकर मेरे कमरे तक पहुँच कैसे गयी ! क्योंकि जिस अर्द्ध-अंग्रेजी होटल में मैं ठहरा हुआ था वहाँ उन दिनों

किसी भी खद्दरधारी को भीतर प्रवेश नहीं करने दिया जाता था। दरबान को, चपरासियों को और 'वेटरों' से इस बात की ताकीद खास तौर से की गयी थी। मैंने विश्वास कर लिया कि उस लड़की ने अपने व्यक्तित्व के जादू से सबकी आँखों में धूल झोंक दी होगी।

"बहरहाल मैं उसी क्षण एक खद्दर की दुकान पर गया और पाँच जोड़ी कपड़ों के लिए अच्छा-सा 'फैशनेबुल' खद्दर खरीदकर बगल ही में एक दर्जी को उन्हें सौंप दिया। प्रायः दुगनी सिलाई देना स्वीकार करके मैंने उसे इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह दो दिन में कपड़े सीकर तैयार कर देगा और उसने अपना वचन पूरा किया। तीसरे दिन मैं सुबह ही से खद्दर का कुरता, धोती और गांधी टोपी पहने उसी रहस्यमयी लड़की की प्रतीक्षा करता रहा, जिसने मुझे अभी अपना नाम तक नहीं बताया था। और वह आयी—दोपहर को ठीक उसी समय जब कि वह पहले दिन आयी थी। 'नमस्ते!' कहकर उसने स्नेहपूर्वक मुस्कराते हुए हाथ जोड़े। मैं भी संकोचपूर्वक मुस्कराता और हाथ-जोड़ता हुआ खड़ा हो गया। 'वाह! इस पोशाक में कितने अच्छे लगते हैं आप!' उसने कहा। उसके मुख के भाव से स्पष्ट झलकता था कि उसका उद्देश्य मुझे बनाने का नहीं है, बल्कि वह अपना सहज विश्वास प्रकट कर रही है। तुम समझ सकते हो कि उसकी उस अकपट प्रशंसा से मेरे भीतर कैसी गुदगुदी उठी होगी। मैं मौन भाव से, ससंकोच मुस्कराता हुआ हाथ जोड़े खड़ा रहा। वह बोली—'अब आप चलिए, आपको नगर कांग्रेस कमेटी के नये अध्यक्ष से मिला लाऊँ। वह आपका निश्चय देखकर बहुत ही प्रसन्न होंगे।' मैं उसी दम उसके साथ चल दिया। होटल के कर्मचारी मुझे खद्दर की पोशाक में देखकर बड़ी तीखी दृष्टि से घूरने लगे। मैं उनकी तनिक भी परवाह न करने का भाव जताता हुआ, प्रायः अकड़ता हुआ चला गया।

"हम दोनों साथ-साथ एक रिक्शा पर बैठे। रास्ते-भर वह अपने

दल के गुप्त और प्रकट योजनाओं को विस्तार से समझाती रही। जब कॉंग्रेस कमेटी के अध्यक्ष के मकान पर हम पहुँचे तो मैंने अपने को एक अजीब परिस्थिति में पाया, जिन सज्जन के पास वह लड़की मुझे ले गयी वह प्रायः ४० वर्ष की अवस्था के एक सौम्य-प्रकृति के सज्जन जान पड़े। लड़की ने उनका नाम रामेश्वरदयाल बताया। वह जगाधरी के रहने वाले थे, यह भी मैंने जाना। उनसे जब मेरा परिचय कराया गया और मेरे नये निश्चय की सूचना उन्हें दी गई तो वह बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'आप जैसे आज तक के अविश्वासी व्यक्तियों का हमारे दल की ओर खिंच जाना हमारी सबसे बड़ी विजय का लक्षण है। इस विजय को बड़ी धूमधाम से जनता के आगे प्रदर्शित करने का लोभ नहीं सँभाल पाता। इसके लिए एक योजना भी इसी क्षण मेरे मस्तिष्क में तैयार हो गयी है। रविवार को मैं एक सभा का आयोजन करूँगा। आप वहाँ अपनी विलायती सूट पहन कर आवें, साथ ही अपने साथ अपने सभी विलायती कपड़े एक बक्स में बन्द करके लेते चलें ?

"मैं इस नाटकीय योजना की बात सुनकर और बहुत कुछ समझकर मुस्कराया। नियत दिन मैं नियत स्थान पर सभा आरंभ होने के कुछ समय पहले ही कीमती कपड़ों से भरे दो बक्स लेकर पहुँच गया। रामेश्वरदयाल जी ने कहा—'मैं जब आपको मंच पर बुलाऊँगा तब आप जनता को बतावें कि देश में उमड़ती हुई स्वतंत्रता की लहर और दमन के दानव ने आपको किस तरह जगा दिया है और अपने मूल्यवान विदेशी कपड़ों की होली जलाने का निश्चय आपने कर लिया है।'

सभा का मैदान ठसाठस भर गया। प्रारम्भ में कुछ स्थानीय नेताओं के भाषण हुए। उसके बाद रामेश्वरदयालजी ने मुझे मंच पर बुलाकर जनता को मेरा परिचय देना आरंभ किया। पर मेरा विलायती सूट देखते ही जनता बुरी तरह भड़क उठी और चारों ओर से चिल्लाहट

शुरू हो गयी—'चले जाओ! हम ऐसे व्यक्ति का भाषण नहीं सुनेंगे।' 'डाउन विद यू! मार डालो साले को।' आदि-आदि। मैं रामेश्वरदयाल जी की नाटकीय योजना पर मन-ही मन खीझ उठा, पर बाहर से शांत भाव जनाता हुआ हाथ जोड़कर खड़ा रहा। रामेश्वरदयाल जी ने बड़ी मुश्किल से जनता को शांत किया और मेरे निश्चय से परिचित कराया। जब सभा में शान्ति छा गयी तब मैंने अपना भाषण आरंभ किया। जीवन में वह मेरा पहला भाषण था। पहले तो मेरी अवाज़ कुछ काँपी, पर बाद में मेरे भीतर न जाने कहाँ से सचमुच का जोश उमड़ आया। मेरे भीतर सहसा क्या क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, राष्ट्र में चारों ओर जो आग फैली हुई है उसने मेरे भीतर विदेशी-पन के संस्कारों को जलाकर किस प्रकार खाक कर डाला है, भविष्य में मैंने किस प्रकार तन, मन और धन से आजीवन राष्ट्र सेवा का व्रत ले लिया, इस तरह की बहुत-सी जोशीली बातें कहकर मैंने जनता को सूचित किया कि अपने पिछले पापों का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से मैं अपने सभी मूल्यवान विदेशी कपड़ों को यहीं पर जला दूँगा।' और तब एक-एक करके बढ़िया ऊनी और रेशमी सूटों को जनता के आगे प्रदर्शित करता हुआ मैं नीचे एक तरफ डालता चला गया। उसके बाद उनमें एक बोतल मिट्टी का तेल डालकर (जो पहले ही से तैयार रखी गयी थी) मैंने उनमें दियासलाई जलाकर आग लगा दी। क्षण में आग की लपटें धधक उठीं। चारों ओर से 'महात्मा गाँधी की जय!' 'केसरीशरण पांडे की जय' के नारों से आकाश गूँज उठा। उस दिन मैंने पहली बार जाना कि आग की लपटों का जनता पर कैसा जबर्दस्त मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

"बस, उसी दिन से मैं शिमला कांग्रेस का डिक्टेटर बन गया। बायरन की तरह मैंने सहसा एक दिन अपने को प्रसिद्ध हुआ पाया। दो महीने तक मैंने अपने नये पद का पूरा उपयोग किया। उसके बाद

जेल चला गया।"

मैं एकांत भाव से बड़ी दिलचस्पी से केसरी की डिक्टेटरी का इतिहास सुन रहा था। जब वह अपना किस्सा समाप्त कर चुका तो मैंने मुस्कराते हुए कहा—"तुम हो नम्बरी चक्री, इसमें संदेह नहीं। मैं आशा करता हूँ, आजीवन राष्ट्रसेवा का जो व्रत तुमने किया है उसे अवश्य अंत तक निबाहोगे!"

वह खोखला अट्टहास कर उठा।

तीसरे पहर जब हम दोनों टहलने के लिए निकल पड़े तो रास्ते में वह कुछ देर तक मौन रहा। जैसे किसी गम्भीर चिंता में मग्न हो। उसके बाद धीरे से बोला—"क्या बताऊँ, यार एक बड़ी मुसीबत में मैं पड़ गया हूँ!"

"वह क्या?"

"जेल से छूटने पर मैं प्रायः एक महीना मेरठ के एक होटल में रहा, यह मैं तुम्हें बता चुका हूँ। मैंने सोचा था कि तब तक मुझे अपने किसी पुराने परिचित मित्र से कुछ रुपया, फिलहाल काम चलाने लायक मिल जायगा। मैंने दो-एक पैसेवाले मित्रों को पत्र भी लिखे, पर कोई फल नहीं हुआ। उधर महीना समाप्त होने पर मैनेजर तकाजा करने लगा। वह मेरी ख्याति से परिचित था, नहीं तो होटल में अधिक समय तक ठहरनेवालों से वह अग्रिम रुपया ले लिया करता है। पर महीना समाप्त होने पर भी जब मैं रुपयों का कोई प्रबन्ध न कर सका तो मुझे बड़ी घबराहट हुई। अंत में कोई चारा न देखकर मैंने अपनी पुरानी चेकबुक निकाली। बैंक से मैं डिक्टेटरी के जमाने में ही कुल रुपया निकाल चुका था। केवल दो रुपया कसम खाने को बचा था। मैंने तत्काल के लिए अपनी लाज बचाने के लिये २०० रुपया का एक 'पोस्ट-डेटेड' चेक मैनेजर के नाम काट दिया। सोचा था कि चेक में डाली गयी तारीख तक यदि रुपया कहीं से मिल जायगा तो जमा कर

दूँगा, या सीधे मैनेजर के पास चेक के स्थान पर नकद रुपया भेज दूँगा। पर चेक की तारीख भी चली गयी और मैं अभी तक रुपया जमा नहीं कर सका हूँ। हा! हा! हा!" फिर एक बार वह खोखली हँसी हँसा।

मैं भी अपना अट्टहास रोक न सका। मैंने कहा—"पर यह तो तुम्हारी पुरानी आदत है। तुम्हें याद होगा एक बार तुमने एक दूसरे होटलवाले को धोखा देने के इरादे से दिसम्बर १९२७ को जो चेक दिया था उसमें जानबूझकर दिसम्बर १९२८ की तारीख डाल दी थी और उसके बाद चंपत हो गये थे! पर अब तो तुमने जब आजीवन राष्ट्र-सेवा का व्रत स्वीकार कर लिया है तब भी इस प्रकार की हरकतों से तुम बाज नहीं आते, यह बात मेरी समझ में न आयी।"

"इन सब हरकतों के लिए मैं दोषी नहीं हूँ। दोषी है वह आर्थिक व्यवस्था जो मुझे मेरे योग्य काम तथा वेतन देने में असमर्थ है। कुछ भी हो, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या तुम फिलहाल मेरे लिये दो सौ रुपयों का प्रबन्ध कहीं कर सकोगे?"

उसकी भूमिका से पहले ही अनुमान लगा चुका था कि उसकी परिणति अंत में कहाँ पर होगी। मैंने कहा—"मैं इस समय किसी तरह सौ रुपया अपने खर्चे में से तुम्हारे लिए बचा सकता हूँ। इससे अधिक का प्रबन्ध मैं नहीं कर सकता।"

"अच्छा लाओ, सौ ही सही। इस समय कुछ काम तो चले।" कहते हुए उसने बड़ी उतावली से मेरी ओर हाथ बढ़ाये।

मैं फिर अपनी हँसी नहीं रोक पाया। बोला "क्या मैं रास्ते में कोई चलता फिरता खजाना लिये घूमता हूँ। अजीब अहमक मालूम होते हो! और फिर अभी इतनी उतावली तुम्हें काहे की है!"

"अच्छा, तो फिर घर चलो! मुझे बड़ी उतावली है, सच कहता हूँ, जब से जेल गया तब से पैसे-पैसे के लिये मोहताज रहा हूँ। यह

जेलकसी पीड़ा है, इसकी कल्पना तुम नहीं कर सकते। यदि लगातार दो वर्षों तक एक बूँद भी पानी न बरसे तो उससे जो पीड़ा किसी किसान को हो सकती है, यह करीब-करीब उसीसे मिलती जुलती पीड़ा है। उफ! चलो, घर लौट चलें।" यह कहकर उसने मेरा हाथ पकड़ कर बलपूर्वक मुझे घर की ओर मोड़ लिया।

घर पहुँचने पर मैंने जब १०० रुपया बक्स से निकालकर उसे दिया तो तत्काल, बिजली के वेग से उसके मुरझाये हुए चेहरे का रंग ही एकदम बदल गया। ऐसी चमक उसके मुख पर आ गयी कि वह २०-२२ वर्ष का जवान पट्ठा लगने लगा। क्षण भर में किसी व्यक्ति की काया किसी भी कारण से इस तरह आमूल बदल सकती है, इसका ज्ञान मुझे नहीं था। रुपयों को शेरवानी की भीतरी जेब में रखता हुआ वह हर्ष गद्गद होकर मुझसे लिपट गया और बोला—"मित्र, मैं तुम्हारी इस कृपा को मरते दम तक नहीं भूलूँगा! तुम बहुत ही भले आदमी हो यह आज मैं निस्संकोच कह सकता हूँ।" उसकी आँखों में हर्षातिरेक के कारण पानी चमकने लगा था।

"चलो, इतने वर्षों बाद तुमने मेरा मूल्य कुछ माना तो!" मैंने उसकी भावुकता को ठंडा करने के उद्देश्य से परिहास के स्वर में कहा।

"अच्छा, तुम तो अब घर ही पर आराम करोगे? मुझे एक बहुत जरूरी काम से एक जगह जाना है। शाम को जब लौटकर आऊँगा, तब फिर बातें होंगी, अच्छा, नमस्ते!" कहकर वह मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही पत्ता तोड़ भागा।

मैं स्तब्ध होकर कुर्सी पर बैठ गया और सिगरेट जलाता हुआ सोचने लगा कि दुनिया में कैसे-कैसे विचित्र प्राणी पड़े हुए हैं।

रात में प्रायः नौ बजे केसरीशरण घर पहुँचा। उसके भीतर प्रवेश करते ही एक विचित्र महक से सारा कमरा भर गया। बत्ती के प्रकाश

में मैंने देखा, उसका चेहरा एकदम लाल और तमतमाया हुआ था। लगता था जैसे उसके गालों को जरा सा दबा देने से खून चूने लगेगा। आँखें चढ़ी हुई थीं। मुख की अभिव्यक्ति ऐसी गुरु-गम्भीर बनी हुई थी कि किसी प्रकार के व्यंग्य या परिहास की बात मुँह से निकालने का साहस नहीं होता था। बहुत डरते-डरते मैंने कहा—"तुम तो शाम ही को लौट आनेवाले थे!"

प्रायः अप्राकृतिक रूप से गम्भीर वाणी में वह बोला—"काम ही ऐसा था कि मैं फँसा रह गया।"

इसके बाद हमारे मेजबान महोदय बाहर के कमरे में आ पहुँचे। उन्होंने केसरी से तब से आज तक का इतिहास जानना चाहा जब पाँच वर्ष पूर्व उन दोनों की भेंट हुई थी।

उत्तर में केसरी ने लंबी-चौड़ी बातें कहना और दून की हाँकना आरंभ कर दिया। साधारणतः केसरी बहुत अल्पभाषी था, और अधिक घनिष्ठता न होने से वह बार-बार उसकाये बिना 'हाँ' या 'ना' के अतिरिक्त किसी की बात का अधिक उत्तर नहीं देता था। पर उस समय वह पूरी मस्ती में था, और संकोच नाम की चिड़िया कैसी होती है, इसे एकदम भूला हुआ था। अतएव बेधड़क ऐसी अतिरंजन भरी बातें अपनी प्रशंसा में कहता चला गया कि मेजबान महाशय अवाक् रह गये।

दूसरे दिन वह दोपहर को ही मुझसे अलग होकर न जाने कहाँ गायब हो गया, और रात में १० बजे उसी मदभरी मस्ती की हालत में घर लौटा। उस हालत में मेरी कोई बात उससे न हो सकी, पर मुझे मन मन उसकी उस दशा पर बहुत दुःख हो रहा था और क्रोध भी आ रहा था।

तीसरे दिन उसका चेहरा इस कदर मुरझाया हुआ था कि लगता था जैसे दो ही दिन में उसने रिप वान विंकल के २० वर्ष बिता दिये

हों। उस दिन वह दिन-भर मेरे ही साथ लगा रहा और एक क्षण के लिये भी अलग नहीं हुआ।

बहुत रोकने पर भी एक बार मेरे मुँह से निकल ही गया—"जिस आवश्यक काम के लिये तुम मुझसे १०० रु० ले गये थे वह तो निश्चय ही पूरा हो चुका होगा! अब क्या इरादे हैं?"

"हा! हा! हा!" अत्यन्त क्षीण स्वर में खोखली हँसी हँसता हुआ वह बोला—"अरे यार! वह सौ रुपया तो दो दिन में ऐसा साफ हो गया कि मैं जान भी नहीं पाया। एक पाई भी इस समय मेरी जेब में शेष नहीं है। हा! हा! हा!"

उसकी खोखली हँसी से मुझे कुछ बल मिला। मैंने कहा—"तुम जान ही नहीं पाये, यह तो सम्भव हो ही नहीं सकता! आखिर रुपया हुआ क्या!"

"अब तुमसे क्या छिपाऊँ, आजकल राधा यहीं है! मेरी खत-किताबत उससे बराबर जारी थी—जब मैं जेल में था तब भी। जेल में एक बार वह मुझसे मिलने भी आयी थी। मुझे वह खर्च के लिये रुपया भी देना चाहती थी, पर मैंने एक कानी कौड़ी भी उससे लेने से साफ इनकार कर दिया। मुझे मेरठ में ही पता लग गया था कि वह आजकल यहाँ आयी हुई है, इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ। यह न समझना कि मैंने १०० रु० उस पर फूँक दिया। वह मेरे रुपयों की भूखी नहीं है। पर कुछ अपने पीने-पिलाने में और कुछ उसके घर के लोगों के बीच शान जमाने में खर्च हो गया!"

"घर के लोग?"

"हाँ, उसकी एक बहन भी उसके साथ रहती है, और नौकर-चाकर उस्ताद और साजवाले—ये सब उसके घर के ही आदमियों के बराबर हैं।"

"कौन राधा है यह? वही लखनऊ वाली लड़की?"

"हाँ, हाँ, वही ! तुमने तो उसे देखा है। अब वह सयानी हो गयी है। बड़ी समझदार और बड़ी ही कोमल स्वभाव की लड़की है। चलोगे एक बार उसके यहाँ ? तुमसे मिलकर वह बहुत खुश होगी।"

जब तुम्हारी जेब गरम थी, तब तुम मुझसे कतराकर भाग निकले थे, और आज चूँकि तुम फिर फटीचर के फटीचर हो गये हो, इसलिये अब मेरा साथ चाहते हो। यही बात है न ?" मैंने कुछ जले-कटे स्वर में कहा।

हालाँ कि मेरे उसका साथ देने को राजी न होने का कारण कुछ दूसरा ही था, पर मैं किसी बहाने उसकी फिजूलखर्ची की आदत के लिये उसे फटकारना चाहता था।

"यह गलत बात है !" उसने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा—"तुमसे कतराने का एक मात्र कारण मेरे लिये यह था कि लखनऊ में तुम्हारी अभद्रता का परिचय इस सम्बन्ध में मुझे मिल चुका था।"

उसकी इस बात में सचाई थी, यह बात मन-ही-मन मुझे स्वीकार करनी ही पड़ी। कुछ भी हो, उसके बार-बार आग्रह करने पर भी उस दिन मैं उसके साथ चलने को किसी प्रकार भी राजी न हुआ।

उसके दूसरे दिन मैं कलकत्ते को वापस चला गया। मुझे पहले ही लौट जाना चाहिये था, क्योंकि वहाँ जिस काम को मैं अधूरा ही छोड़ आया था उसमें आवश्यक देर हो रही थी।

× × × ×

प्रायः ढाई वर्ष बाद एक दिन अचानक केसरी कलकत्ते में सीधे मेरे आफिस में आ धमका। खद्दर को साँप की केंचुली की तरह छोड़ चुका था और फिर अपने असली रूप में आ गया था—सिर से पाँव तक विलायती वेष-भूषा में सुसज्जित था। कहना न होगा कि क्षण-भर के लिये मेरी आँखों ने उसे पहचानने में धोखा खाया। पर ज्योंही

उसने टोप उतारकर टेबिल पर रखी त्योंही उसके चिर-परिचित चीमड़ मुख को पहचानने में मुझे देर न लगी।

"कहो मिश्र, आज अचानक कहाँ से आ कूदे ?" मैंने अपने मुख-पर शिष्टतापूर्ण मुसकान झलकाने का प्रयत्न करते हुए और याराना ढंग से उसके बाएँ कंधे पर हाथ रखते हुए कहा।

बहुत ही धीरे से, कुछ संकोच-भरे-से स्वर में उसने उत्तर दिया—"आज ही बम्बई से आ रहा हूँ।"

"कहाँ ठहरे हो ?"

"सेन्ट्रल एविन्यू में एक छोटा-सा होटल है उसी में ठहरा हूँ।"

"सीधे मेरे यहाँ क्यों नहीं चले आये ?" मैंने केवल शिष्टाचार वश पूछा, क्योंकि मेरे यहाँ उसके योग्य एक अलग कमरे की गुंजाइश नहीं थी।

"मुझे तुम्हारे मकान का पता मालूम नहीं था।"

"बड़ी प्रसन्नता हुई तुम्हें देखकर। चलो, बाहर कहीं चाय पिएँ।"

और मैं उसे साथ लेकर बाहर निकल पड़ा। कालेज स्क्वायर के पास ही एक चाय-घर में उसे ले गया, एक छोटा-सा अँधेरा कमरा था, जो 'वसंत काफे' के नाम से ख्यात था। दो प्याला चाय और दो-दो 'टोस्ट' का आर्डर देकर मैं केसरी से बातें करने लगा। मैंने पूछा—"हाँ, तो बम्बई में तुम क्या करते थे ?"

"एक नयी फिल्म कम्पनी खोलने की योजना कर रहा था।" अपनी टोप को टेबिल के एक कोने में खिसकाते हुए वह बोला।

"वह योजना कहाँ तक सफल हुई ?"

"अभी चल रही है। अभी से कहा नहीं जा सकता कि उसमें कहाँ तक सफलता मिलेगी। मैं अपनी कम्पनी का प्रतिनिधि बनकर कलकत्ते में कुछ अभिनेताओं और अभिनेत्रियों से बातें करने आया हूँ। मैं चाहता

हूँ, विशेष-विशेष अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ भी हमारी कम्पनी के शेयर खरीदें और साथ ही अपने कलात्मक सहयोग भी दें।"

"अच्छा, यह बात है!" मैंने अपने अविश्वास के भाव को दबाते हुए कहा।

चाय आयी। एक घूँट पीते ही मेरे मस्तिष्क का एक बन्द कोष सहसा खुल गया। "हाँ, तुम्हारी वह राधा आजकल कहाँ है?"

खोखली हँसी से उसका निःसत्व चीमड़ मुख कुछ चमक उठा। "अह्! अह्! अह्! तुम्हें राधा की याद अचानक कैसे आयी।"

"यों ही, क्या अपनी कम्पनी में तुम उसे नयी अभिनेत्री के रूप में नहीं ले सकते हो?"

"राधा आजकल यहीं है......"

"सच? तो मेरा अनुमान ठीक ही था! कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई! नहीं, कहाँ चंद्र चंद्रिका तजि जावे!"

"वह न्यू थियेटर्स की एक नयी फिल्म में काम कर रही है। इसके पहले भी वह एक फिल्म में काम कर चुकी है। जब नयी फिल्म में उसका काम पूरा हो जायगा, तब मैं उसे अपने साथ ले चलने का इरादा कर रहा हूँ। वह शेयर खरीदने को तैयार है।"

"तुम्हारी बातें उससे हो चुकीं?"

"हाँ, मैं उसी के यहाँ से अभी आ रहा हूँ।"

"गजब की फुर्तीवाले हो तुम!"

जब हम लोग चाय पी चुके तो उसने मुझसे अपने होटल में चलने का प्रस्ताव किया। बाहर आकर, एक रिक्शा पर हम दोनों बैठ गये। सेन्ट्रल एविन्यू में जिस 'होटल' में मुझे ले गया, वह सब से नीचे की मंजिल पर था। उसमें केवल चार कमरे थे, एक छोटे से कमरे में केसरी शरण ठहरा था। कमरे का प्रायः तीन-चौथाई भाग उसके सामान से ही भर गया था। बढ़िया विलायती चमड़े के चार सूटकेस—दो

बहुत बड़े, दो कुछ छोटे—अधखुली अवस्था में पड़े थे और 'सूटों' से ठसाठस मालूम पड़ते थे। तीन बड़े-बड़े स्टील ट्रंक तीन स्थानों पर अव्यवस्थित रूप में रखे थे। केसरी ने स्वयं बताया कि उन ट्रंकों में चीनी मिट्टी के बर्तन के सेट, मुरादाबादी कलई के बर्तन, पुस्तकें आदि चीजें रखी हुई हैं। एक स्थान पर एक विचित्र प्रकार का बक्स खुला हुआ पड़ा था, जिसमें एक दर्जन जूतों के प्रायः नये और रंग-बिरंगी जोड़े रखे हुए थे, वह बक्स बनाया ही इस उद्देश्य से गया था, ऐसा मुझे बताया गया। पलंग पर एक बढ़िया रेशमी पलंग-पोश के ऊपर सिरहाने पर एक झालर मखमली तकिया रखा था और पैताने पर एक रेशमी फर्द वाला लिहाफ और आस्ट्रेलियन ऊनका एक कंबल बिछा था। एक वर्दीधारी नौकर अपने मालिक से कोई आदेश पाने की आशा में तत्पर खड़ा था।

"यह जगह तुम्हारे योग्य नहीं है," मैंने सारे कमरे का निरीक्षण करते हुए कहा।

"तुम ठीक कहते हो, पर जल्दी में मैं अभी कोई अच्छी जगह ढूँढ नहीं पाया हूँ। अच्छा बोलो, क्या खाओगे? किस चीज के लिये आर्डर दिया जाय?"

मैंने कहा कि मैं अभी टोस्ट खाकर आया हूँ, कुछ खाऊँगा नहीं। फिर भी उसने कुछ गरमागरम चाय और पेस्ट्री का आर्डर दे ही दिया। उसके बाद उसने बम्बई में अपने जीवन से संबंधित कुछ लच्छेदार किस्से सुनाये। चाय और पेस्ट्री को चाय के साथ पेट में गलाते हुए हम लोग बहुत देर तक इधर-उधर की गप्पें उड़ाते रहे। जब रात होने को आयी तो मैं विदा होने लगा। पर केसरी ने मेरा हाथ पकड़ लिया और बोला—"बहुत दिनों बाद मिले हो। बैठो, जल्दी क्या है, खाना यहीं खाके जाओगे।" कहकर उसने मेरा हाथ खींचकर नीचे बिठा लिया। मुझको प्रारंभ ही से उस कमरे के सारे वातावरण से एक अज्ञात

रूप से अप्रिय अनुभूति बहुत बेचैन कर रही थी, पर अपनी उस बेचैनी का कोई प्रत्यक्ष कारण मुझे नहीं दिखायी देता था।

होटल में जो अच्छी से अच्छी 'डिशें' प्राप्त थीं वे सब केसरी ने मँगायीं। खा-पीकर मैं फिर चलने को तैयार हुआ। वह बोला—"अच्छा चलो कुछ दूर तक मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।"

हम दोनों होटल से बाहर निकले और एक रिक्शा पकड़कर उस पर बैठ गये। कुछ दूर तक दोनों चुप बैठे रहे थे। मेरे मन में एक अज्ञात संदेह की अदृश्य तरंग टकराने लगी। मुझे लगा कि केसरी कोई खास बात कहने के लिये ही मेरे साथ आया है। पर वह क्या बात हो सकती है? कहीं वह......

सहसा वह बहुत ही धीर, गंभीर और साथ ही कोमल वाणी में बोला—"तुम एक काम कर सकते हो?"

"क्या?" मैंने आशंकित होकर पूछा।

"दो सौ रुपया इसी समय मुझे उधार दे सकते हो? मैं बम्बई से जितने रुपये लाया था वे सब समाप्त हो चुके हैं। मैंने आज ही अपनी कंपनी को तार दिया है कि वह तार द्वारा एक हजार रुपया मुझे भेजे। कल तक निश्चय ही रुपया आ जायगा। तब मैं तुम्हारे पिछले रुपये भी जो मैंने कभी इलाहाबाद में लिये थे—वापस कर दूँगा।"

मैं बड़े धर्म संकट में पड़ गया। मेरे पास इतने रुपये तो नहीं थे, फिर भी कहीं न कहीं से मैं प्रबन्ध अवश्य कर सकता। पर वह फिर कभी चुकायेगा, इसकी तनिक भी आशा मुझे नहीं थी। साथ ही परदेश में अपने सामने उसकी दयनीय स्थिति भी मेरी आगे स्पष्ट हो रही थी। बहुत पशोपेश के बाद अंत में पचास रुपया देने पर राजी हुआ—इतना रुपया मेरे बटुए में था। वह लाचारी देखकर इतने ही पर राजी हो गया। मैंने ज्यों ही उसे रुपया दिया त्यों ही उसने रिक्शा रुकवाया और उतर

पड़ा। "कल फिर मिलूँगा," कहकर उसने हाथ जोड़े, और पैदल होटल की तरफ लौट चला।

दूसरे दिन ठीक चार बजे वह फिर मेरे दफ्तर में पहुँच गया। मैं जल्दी काम समाप्त करके फिर उसे लेकर पास ही एक चाय-घर में पहुँचा। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद बोला—"आज राधा से मैंने तुम्हारा उल्लेख किया था। वह तुम्हें जानती है। उसने तुम्हारी लिखी चीजें पढ़ी हैं। उसने मुझसे कहा—'मैं तो उनके दर्शनों के लिए बहुत उत्सुक हूँ। पर क्या वह कभी मेरे यहाँ पधार कर दर्शन देने को राजी हो सकेंगे?' मैंने उसे बताया कि तुम वही सज्जन हो जो एक बार लखनऊ में उसके दरवाजे पर से ही लौट चले थे। तब तो वह और भी अधिक तुमसे मिलने के लिये उत्सुक हो उठी है। बोलो आज एक बार चलोगे?"

तब मेरे मन में राधा-जातीय नारियों के प्रति वह कट्टर विरोधी संस्कार नहीं रह गया था जो उसके कई वर्ष पूर्व लखनऊ में था। यद्यपि मेरे संबन्ध में राधा की उत्सुकता की बात पर मुझे तनिक भी विश्वास नहीं हुआ, तथापि एक कुतूहली भाव ने मेरे भीतर जोर मारा। चाय पी चुकने पर हम दोनों सीधे राधा के घर के लिये ट्राम से चल पड़े। बहूबाजार के मोड़ पर उतर कर केसरी दायें हाथ की ओर ले गया। कुछ ही दूर पर एक मकान के दरवाजे पर आकर ठहरा। वह दरवाजे के भीतर घुस गया और मुझसे भी अपने पीछे-पीछे चलने को संकेत किया। जीने से होकर जब हम लोग ऊपर की मंजिल पर पहुँचे, बाहर के कमरे में एक प्रायः चालीस वर्ष की महिला कालीन बिछे हुए फर्श पर बैठी थी और उसके पास दो आदमी और बैठे हुये थे, जिनसे वह बातें कर रही थी। उनमें से एक व्यक्ति की शक्ल-सूरत से मैंने अनुमान लगाया कि वह उस्ताद होगा। हमें देखते ही उसने केसरी की ओर देखकर रूखी सी मुस्कान से हाथ जोड़े। मैं अत्यन्त संकोच से खड़ा

था। एक बार इच्छा हुई कि केसरी से कुछ कहे बिना ही चुपचाप लौट चलूँ। सारा वातावरण अत्यन्त विजातीय-सा मुझे लग रहा था और सबसे विकट मुझे लगी उस अपरिचित महिला की रूखी मुसकान। स्पष्ट ही केसरी का उससे पुराना परिचय था, पर उसकी दृष्टि में—कम से कम आज—केसरी विशेष स्वागत योग्य नहीं था।

केसरी बेतकल्लुफ महिला के पास ही बैठ गया और मुझसे बोला—"बैठते क्यों नहीं?"

पर मैं अनिश्चित अवस्था में खड़ा ही रहा। महिला ने भी मुझे सकुचाते देखकर कहा—"आइये, तशरीफ रखिये!"

अंत में एक दूरस्थित कोने में मैं मन मारकर बैठ ही गया, यद्यपि एक अनोखी ग्लानि के भाव से मेरा सारा शरीर कंटकित हो रहा था।

"राधा कहाँ है?" केसरी ने धीरे से पूछा।

"अभी स्टूडियो से आयी है, सिर में दर्द है। आराम कर रही है।" कुछ देर तक कमरे में मौन छाया रहा।

"आपकी तारीफ?" सहसा महिला ने मेरी ओर संकेत करते हुए केसरी से पूछा। जैसे किसी भूली बात की याद उन्हें हो आयी हो।

"आप एक मशहूर लेखक हैं। फिल्मी दुनिया में आपकी बड़ी धाक है। बड़ी-बड़ी कंपनी के 'प्रोड्यूसर' आपसे अपनी फिल्मों के लिए कहानियाँ लेने के लिए उत्सुक रहते हैं…"

ऐसा निर्जल असत्य मेरे संबन्ध में मेरे ही ऊपर वह बेधड़क बोल गया कि मैं स्तंभित रह गया। मारे संकोच के मेरे मुँह में जैसे ताला लग गया। मैं न तो खंडन कर सका, न संशोधन। सिर नीचा किये निपट गूंगों की तरह मौन रहा।

फिल्मी दुनिया में मेरी 'धाक' की बात सुनते ही महिला के मुख का अपेक्षाकृत उदासीन भाव जाता रहा और उसकी आँखों में एक

स्वागत-भरी मुसकान तीव्रता से चमक उठी। "ओह! बड़ी ख़ुशी हुई आपसे मिलकर।"

मैंने शिष्टाचार वश हाथ जोड़ दिये।

"आपका इस्म—शुभ नाम?"

केसरी ने मेरा नाम बता दिया।

"पर नाम तो कुछ जाना-पहचाना हुआ सा लगता है—"

केसरी बीच ही में बोल उठा—"आपको कौन नहीं जानता, तमाम हिन्दुस्तान में आपकी ख्याति फैली हुई है। आप......"

मैंने अपना मौन भंग करते हुए कहा—"मुझे बैठने भी दोगे या नहीं? या इसी तरह की बेतुकी बातें किये चले जाओगे?"

बिना तनिक भी अप्रतिभ हुए केसरी अत्यन्त गंभीरता-पूर्वक बोला—"यदि अपने संबन्ध की यथार्थ बातें सुनने में तुम्हें स्त्रियों की तरह संकोच मालूम होता है, तो ऐसा कहो। पर मेरी बातों को बेतुकी बताकर तुम सचाई नहीं छिपा सकते।"

इच्छा होती थी कि उस शैतान के कान एक बार कसकर उमेठ डालूँ। पर परिस्थिति ऐसी थी कि सिवा चुप रहकर सब कुछ सहते चले जाने के और कोई चारा मेरे लिए नहीं था।

उस दुष्ट ने गंभीरता का ऐसा नकाब अपने चेहरे पर डाल लिया था, कि किसी गैर-जानकार व्यक्ति के लिये उसकी कृत्रिमता का संदेह करना संभव नहीं था।

मेरे संबन्ध में उसके असत्य आरोपों का उपस्थित महिला पर स्पष्ट ही बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ गया था। वह पुलकित दृष्टि से मेरी ओर घूर-घूर कर देख रही थी। मेरी उस समय की मानसिक स्थिति किस हद तक दयनीय हो उठी होगी, उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं।

केसरी संभवतः उस महिला पर पड़े प्रभाव का पूरा लाभ उठाने

के उद्देश्य से बोल उठा—"क्या राधा को बुलाया नहीं जा सकता ? मैं उससे इनका परिचय कराने के विचार से ही इन्हें लाया हूँ।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं, मैं अभी उसे बुलाकर लाती हूँ!" अत्यन्त उत्साहित होकर महिला ने कहा और वह उठकर भीतर चली गयी।

प्राय: १० मिनट बाद एक सुंदरी को साथ लेकर वह महिला बाहर चली आयी। सुंदरी को प्रथम दृष्टि से देखने पर लगता कि उसकी आयु २२ वर्ष के आस-पास होगी पर उसकी आँखों के छोरों पर जो दो-तीन बहुत हलकी सी रेखायें पड़ी हुई थीं उन्हें गौर से देखने पर कोई भी विशेषज्ञ २८ वर्ष से कम उसकी उम्र न बताता। सुंदरी ने स्निग्ध मधुर मुसकान मुख पर झलकाते हुए हम लोगों की ओर हाथ जोड़े। जब वे दोनों नीचे बैठ गयीं तब केसरी ने हम दोनों का आपस में परिचय कराया। मैं पहले ही अनुमान लगा चुका था कि वही राधा होगी हालाँकि १० वर्ष पूर्व उसे लखनऊ में एक झलक देखने के बाद जो कल्पना उसकी आकृति के संबन्ध में मैंने कर रखी थी उससे उसे पहचानने में कोई सहायता मुझे नहीं मिली।

राधा बड़ी ही सादी पोशाक में थी। सफेद रेशम की साड़ी और उसी कपड़े का एक सादा ब्लाउज वह पहने थी। कानों के दो सिरों में दो स्वच्छ मोती झलक रहे थे। बाएँ हाथ में सोने की एक छोटी-सी घड़ी थी। इन चीजों के अतिरिक्त और अलंकरण का प्रयास अन्य किसी भी रूप में उसकी वेष-भूषा में मुझे नजर नहीं आया, उसके सारे व्यक्तित्व से ऐसा अनुभव होने लगता था कि वह किसी सुसंस्कृत घराने की सुशिक्षिता महिला है। केसरी इतने वर्षों से उसके पीछे क्यों अपना जीवन खराब कर रहा है, इसका बहुत कुछ बोध राधा के व्यक्तित्व की सादगी और शालीनता से मुझे होने लगा।

"आपके नाम से और आपकी छिट-फुट रचनाओं से मैं परिचित हूँ।

बहुत दिनों से आपके दर्शनों की इच्छा थी।" राधा ने मृदु-मंद संकोच-भरी स्निग्ध मुसकान अपने सुंदर मुख पर झलकाते हुए कहा।

"और मैं भी आपके नाम से पहले ही से परिचित हूँ। आपकी ख्याति मैंने सुनी है, इसीलिए मैं भी आपके दर्शनों के लिये ही आया हूँ।"

"आपने बड़ी कृपा की।" कहती हुई वह अपनी अन्तर्भेदिनी मार्मिक दृष्टि से मेरी ओर देखती रही। जैसे अपने संबन्ध में मेरे मन के यथार्थ भाव को जानने का प्रयत्न कर रही हो।

केसरी मेरी ओर संकेत करता हुआ राधा से बोला—"सिनेमा संसार में इनकी बड़ी धाक है। यह बहुत ही बड़े और साथ ही लोकप्रिय कहानी लेखक हैं, इसलिए सिनेमा प्रोड्यूसर्स इनके दरवाजे पर धरना देते रहते हैं।" बिना तनिक भी परिहास से केसरी यह बात कह गया। मैं अपनी इस कायरता से भीतर ही भीतर क्षुब्ध हो रहा था कि उसकी इस बात का खंडन स्पष्ट शब्दों में करने का साहस मुझे नहीं हो रहा था। मैं इस धर्मसंकट में पड़ा हुआ था कि यदि मैं क्रोध का भाव जताते हुए उसकी बात का खंडन करूँ तो उसने अपनी जो धाक उन लोगों के बीच जमा रखी है उसकी कच्ची नींव तत्काल ढह जायगी।

फिर भी मेरे मुँह से निकल पड़ा—"नहीं, यह सब गलत बात है।"

केसरी मेरे खंडन से तनिक भी अप्रतिभ न होता हुआ व्यंग्य-भाव से बोला—"छिपाने से तुम छिप नहीं सकोगे यह मैं बताये देता हूँ।"

ऐसी दुष्टता का कोई उत्तर मेरे पास नहीं था। लाचार मैं मौन साधे बैठा रहा।

"कहिए, आपकी क्या सेवा करूँ?" राधा बोली।

"सब कृपा है।" कहकर मैंने हाथ जोड़ दिये।

इसके बाद केसरी ने उससे इधर-उधर की बातें शुरू कर दीं।

राधा बीच-बीच में मुझे भी उस बात-चीत में शरीक करने का प्रयत्न कर रही थी, पर मैं केवल 'हाँ' या 'ना' कहकर चुप रह जाता था।

थोड़ी देर बाद एक नौकर 'ट्रे' में चाय ले आया और साथ में कुछ नमकीन और मिठाइयाँ थीं।

चाय पीते हुये मैंने राधा से पूछा—"क्या आप आजकल न्यू थियेटर्स में काम कर रही हैं ?"

"जी हाँ, आज भी स्टूडियो गयी थी। जिस दिन मैं स्टूडियो जाती हूँ उस दिन मेरे सिर में बड़े जोर का दर्द शुरू हो जाता है। फिल्मी दुनिया में आगे बढ़ने की बड़ी इच्छा है पर मेरा यह सिर का दर्द मुझे मार डालेगा, मुझे ऐसा लगता है।" कहकर वह अपने दाहिने हाथ से अपना माथा दबाने लगी।

मैंने सांत्वना देते हुए कहा—"धीरे-धीरे आदत पड़ जाने से सब ठीक हो जायगा। अभी से इस कदर घबराने का कोई कारण नहीं है।"

जब हम लोग चाय पी चुके तो मैंने केसरी से लौट चलने का प्रस्ताव किया। वह अभी वहीं डटे रहना चाहता था, पर मेरे प्रस्ताव को टालने का साहस भी उसे नहीं हो रहा था। बोला—"कुछ देर बैठोगे नहीं ?"

"मैंने कहा—"तुम्हें यदि काम हो तो बैठे रहो।"

"नहीं, मैं भी चलता हूँ।" कहकर वह भी उठ खड़ा हुआ। मैंने राधा के प्रति हाथ जोड़े। उसने भी खड़े होकर स्निग्ध भाव से प्रत्याभि-वादन किया और बोली—"फिर आइयेगा !"

"अवश्य !"

"देखिये, भूलियेगा नहीं !"

"नहीं।" कहकर मैं चल दिया।

जब हम लोग बाहर आकर राधा के मकान से कुछ दूर निकल

गये तब मैंने कहा—"तुमने मेरे संबन्ध में जो इस तरह की गलत बात उन्हें बतायी, इसमें तुम्हारा क्या उद्देश्य था ?"

"उद्देश्य स्पष्ट था।" राधा की बड़ी बहन—जो हमें पहले मिली थी—यह ताड़ गई है कि आजकल मेरे पास रुपया नहीं है। साथ ही वह यह भी जानती है कि राधा मेरे रुपयों की भूखी नहीं है। इसलिये वह मुझे भरसक उसके पास फटकने नहीं देना चाहती। ऐसी हालत में मेरे लिये केवल यही चारा रह गया था कि मैं किसी उपाय से राधा की बड़ी बहन के आगे किसी दूसरे प्रलोभन का जाल फाँदूँ। भाग्य से तुम मुझे मिल गये। इसलिये तुम्हारी उपस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाने से मैं क्यों चूकता ? तुमने देखा, ज्यों ही मैंने यह बात उसके मन पर जमायी कि तुम्हारा फिल्मी दुनिया पर भारी प्रभाव है, तो किस प्रकार पानी-सी पतली हो गयी ? उसके पहले वह बता रही थी कि राधा की तबियत ठीक नहीं है और उससे मिलना नहीं हो सकता पर बाद में वह स्वयं जाकर राधा को बुला लायी। इसलिये तुम मेरे लिये तो आज कल्पवृक्ष सिद्ध हुए हो !"

"तो क्या तुम्हारा ख्याल है कि राधा भी तुम्हरे इस फंदे में आ जायगी ?"

"राधा को फंदे में आने की आवश्यकता ही क्या है ? मैं बता चुका हूँ कि वह मेरे रुपयों की भूखी नहीं है। वह तो चाहती ही है कि मैं सब समय उसके पास रहूँ।"

\+ \+ \+

इस घटना के प्राय: दो सप्ताह बाद एक दिन एक विशेष निमंत्रण पत्र मेरे पास आया जिसमें यह सूचित किया गया था कि अमुक दिन उसने अपने यहाँ सिनेमा-जगत से संबन्धित कुछ विशेष व्यक्तियों को चाय देने का निश्चय किया है जिसमें मेरी भी "उपस्थिति प्रार्थनीय" है। पहले तो मैंने यह तय किया कि मैं नहीं जाऊँगा—इसका कारण

यह था कि फिल्मी दुनिया से संबन्धित व्यक्तियों में मुझे कोई विशेष दिलचस्पी न थी। पर बाद में कौतूहल ने जोर मारा। केसरी ने बताया कि उसे निमंत्रित नहीं किया गया है और स्पष्ट ही राधा ने जानबूझ कर उसका अपमान किया है। मैंने बताया कि "राधा से तुम्हारा जैसा घनिष्ठ संबन्ध है उसमें किसी 'फार्मल' निमंत्रण की कोई आवश्यकता तुम्हारे लिये नहीं रह जाती।" यह तर्क उसे कुछ जँचा और वह मेरे साथ बिना निमंत्रण के ही चलने को राजी हो गया।

चाय के अवसर पर केसरी ने अतिथियों के आगे अपनी जिस वाक्-पटुता का प्रदर्शन किया उसका कोई पूर्व अनुभव मुझे नहीं था। इसलिये मुझे तो आश्चर्य हुआ ही, स्वयं राधा को भी कुछ आश्चर्य न हुआ, ऐसा उसके मुख की विस्मित अभिव्यक्ति से मैंने अनुमान लगाया। केसरी ने बात-चीत के विषय को धीरे-धीरे फिल्म व्यवसाय से केंद्रित कर दिया। इस व्यवसाय से संबन्धित ऐसे ऐसे गहरे अनुभवों की बातें उसने बतायीं, ऐसी-ऐसी योजनाएँ श्रोताओं के आगे उद्घाटित कीं, ऐसे-ऐसे विशेषज्ञता-पूर्ण सुझाव पेश किये कि जो लोग कुछ ही समय पूर्व तक उसे अत्यंत अवज्ञा के पात्र समझ रहे थे वे अत्यंत प्रभावित हो उठे और वह सब के आकर्षण का केन्द्र बन गया। मैं राधा के मुख के भाव पर गौर कर रहा था। एक हर्ष-गद्‌गद और पुलक-विह्वल भाव से उसका मुख चमक उठा था। मेरे अनुमान से केसरी की वाक्-विजय ही उसकी उस पुलकानुभूति का कारण थी।

उस दिन घर लौटते मैंने केसरी को इस बात के लिये बधाई दी कि उसने सारी सभा पर अच्छी धाक जमाने में सफलता प्राप्त की, और साथ ही उससे यह प्रश्न किया कि जब उसे फिल्मी दुनिया का इतना अनुभव है तब वह क्यों किसी अच्छी कम्पनी में किसी योग्य पद की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता। उसने अत्यन्त उदासीन भाव से उत्तर दिया कि नौकरी में कुछ नहीं धरा है, और यदि कहीं उसे एक हजार

रुपया मासिक वेतन भी मिलने लगे तो उतने से न तो उसका खर्चा चल सकेगा, न उसकी महत्त्वाकांक्षा की ही पूर्ति होगी।

"तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा वास्तव में है क्या, यह मैं अभी तक नहीं समझ पाया," मैंने कहा।

"मेरी इच्छा है कि मैं एक ऐसी फिल्म कम्पनी खोल पाऊँ, जिसका मैं सर्वेसर्वा होकर रहूँ—नौकर नहीं, और आदि से अन्त तक मेरी ही इच्छा, मेरे ही संचालन के अनुसार वह कम्पनी नये-नये क्रांतिकारी फिल्मों को तैयार करे।"

"मैं समझ गया, और मुझे याद आ गया है कि तुमने किसी फ़िल्म कम्पनी के खोलने की बात मुझसे की थी। कहाँ तक तरक्की की तुम्हारी उस योजना ने?"

"राधा से इस सम्बन्ध में मेरी बातें चल रही हैं, उसने अभी तक कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है। उसी के उत्तर पर बात बहुत कुछ निर्भर करती है।"

"हुम्!" कहकर मैं चुप हो रहा और सोचने लगा—केसरी के ही विचित्र व्यक्तित्व के सम्बन्ध में।

\+ \+ \+

मेरे यहाँ केसरी प्रायः प्रतिदिन आया करता था, और राधा के यहाँ के भोज के बाद भी वह प्रायः नियमित रूप से तीसरे पहर चार बजे के आस-पास आ जाया करता था।

एक दिन मैं शाम को प्रायः ६ बजे तक उसका इन्तजार करता रहा, पर वह नहीं आया। यह एक नयी बात थी। "कहीं वह बीमार तो नहीं पड़ गया है?"—मैंने सोचा—"बेचारा परदेश में अकेला होटल में पड़ा हुआ है, कोई परिचित व्यक्ति या मित्र उसके निकट नहीं है। होटल में चलकर उसकी खबर लेनी चाहिये।" यह सोचकर मैं होटल जाने की तैयारी कर ही रहा था कि केसरी का नौकर हाँफता

हुआ मेरे पास आ पहुँचा और बोला —"बाबू जी, बाबू जी, मेरे बाबू जी को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है। आप उन्हें बचाइये !"

"पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है ? कहाँ और किस लिये ?" मैंने घबरायी हुई—प्रायः काँपती हुई—आवाज में पूछा।

"बाबू जी रोज जनरल पोस्ट आफिस में अपनी डाक लेने आया करते थे। पोस्ट मास्टर के पते से ही उनकी चिट्ठियाँ आती थीं। आज ज्योंही वह खिड़की पर यह जानने के लिये गये कि उनके नाम से कोई चिट्ठी आयी है या नहीं, तो एक सादी पोशाक वाले आदमी ने उसी दम उन्हें गिरफ्तार कर लिया। बाद में मालूम हुआ कि वह पुलिस का आदमी है और जान-बूझ कर सादी पोशाक पहने कुछ दिनों से उस खिड़की के आस-पास चक्कर लगाया करता था।"

"किस लिये उसे गिरफ्तार किया गया, तुम बता सकते हो ?"

"मुझे तो कुछ भी पता नहीं है, हाँ इतना जरूर मालूम हुआ है कि बम्बई से उनकी गिरफ्तारी का वारंट आया हुआ था और यह भी पता चला है कि खुफिया पुलिस कुछ दिनों से उनके पीछे पड़ी हुई थी। पर इसकी कोई खबर न उन्हें थी न मुझे थी।"

"तो अब क्या हो सकता है ? तुम्हें कुछ पता है कि उन्हें पकड़कर कहाँ ले जाया गया है।"

"अभी तो वह लालबाग थाने पर हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं आपसे जमानत के लिये कहूँ।"

"जमानत ? पर मेरी जमानत पर पुलिस वाले क्यों राजी होंगे ! फिर भी चलो, मैं थाने में चलता हूँ।" कहता हुआ मैं उसी क्षण नौकर के साथ लालबाग थाने की ओर रवाना हुआ। ट्राम पकड़कर मैं जब थाने पहुँचा तब एक उच्च कर्मचारी से मिला। उससे पूछताछ करने पर पता चला कि जमानत पर छोड़ने का सवाल कलकत्ते में उठ ही नहीं सकता, बम्बई में ही यह सम्भव हो सकता है, क्योंकि मामला वहीं

से सम्बन्धित है। उसने यह भी बताया कि वे लोग केसरी को सीधे बम्बई भेज रहे हैं—सात बजे शाम की गाड़ी में मैंने केसरी से मिलना चाहा। कर्मचारियों की दुष्टता से हो अथवा कानून ही ऐसा रहा हो, केसरी से मुझे मिलने नहीं दिया गया। मैं अपना-सा मुँह लेकर घर लौट आया।

दूसरे दिन सुबह केसरी के नौकर ने आकर बताया कि जिस होटल में केसरी रहता था उसका मालिक उसे (नौकर को) बहुत परेशान कर रहा था, क्योंकि अभी तक न तो होटल के किराये का और न इतने दिनों के भोजन का बिल ही चुकाया गया था। जब से केसरी आया था तब से होटल वाले को एक पैसा भी उसने नहीं दिया था! सुनकर मुझे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। नौकर ने कहा कि वह केसरी का सब सामान लेकर रातोंरात चुपचाप चंपत हो जाना चाहता था, पर होटल के एक कर्मचारी ने उसे पकड़ लिया और सारा सामान छीन लिया। वह रोता हुआ कहने लगा कि उसके वेतन के रूप में भी केसरी ने महीनों से उसे एक पैसा भी नहीं दिया और अब उसके पास घर वापस जाने को रेल भाड़े के लिये भी पैसा नहीं है। मैंने उससे मेरे यहाँ रहने और काम करने के लिये कहा। पर वह राजी न हुआ और बोला कि वह अर्से से घर नहीं गया है और अब वहीं लौट जाना चाहता है। मैं उसके रेल टिकट के लिये पर्याप्त रुपया देकर १५ रु० और दे दिया। वह हाथ जोड़ता हुआ चला गया।

उसी दिन राधा का एक आदमी एक चिट्ठी लेकर मेरे पास आया। राधा ने लिखा था कि वह कुछ बहुत जरूरी काम से मुझसे मिलना चाहती है, और शाम की चाय अपने ही यहाँ पीने का अनुरोध उसने मुझसे किया था।

शाम को मैं नियत समय पर राधा के यहाँ गया। उसकी दोनों आँखें जैसे सूज गयी थीं। स्पष्ट ही वह बहुत देर तक रोती रही होगी।

उसने भर्राई हुई आवाज में मुझे अपने साथ भीतर चलने के लिये कहा। एक छोटे-से, किन्तु साफ-सुथरे कमरे में वह मुझे ले गयी। एक कोने में एक पलंग पड़ा हुआ था, जिस पर हाथ की काम की हुई जालीदार चादर बिछी हुई थी। उसके ऊपर नीले रंग की एक झालरदार मसहरी पड़ी हुई थी। बीच में चारों ओर छोटे-छोटे कालीन बिछे हुए थे, जिनके बीच में एक शुभ्र श्वेत रंग का दस्तरख़ान बिछा था। उसपर 'ट्रे' में तैयार चाय का सामान और कुछ भोज्य पदार्थ रखे हुए थे।

"आइये बैठिये!" उसी रोती-सी आवाज में राधा बोली, मैं चुपचाप एक कालीन पर बैठ गया। राधा मेरे सामने बैठ गयी, एक नौकर दरवाजे पर खड़ा था और चौथा कोई व्यक्ति वहाँ नहीं था।

"केसरी बाबू का हाल तो आप सुन ही चुके होंगे?" आँखों को शायद दिन-भर के अभ्यासवश—अपनी साड़ी के अंचल से पोंछते हुए वह बोली।

"जी हाँ।" मैंने मुरझाये हुए स्वर में कहा।

"क्या कोई उपाय उन्हें छुड़ाने का नहीं किया जा सकता?"

"मैं कल थाने में गया था, इस प्रयत्न में कि जमानत पर उसे छुड़ा लाऊँ। पर मुझे सफलता नहीं मिली। मालूम हुआ है कि बम्बई से उसकी गिरफ्तारी का वारन्ट आया हुआ था। और जमानत पर यदि उसे छुड़ा सकना सम्भव होगा तो यह बम्बई में ही हो सकता है।"

"मैं जानती हूँ। मुझे पूरा विश्वास है, यह उसी दुष्ट कपूर की शरारत होगी, जिसका उल्लेख वह अक्सर अपनी बातों में किया करते थे। उससे इनका अच्छा परिचय था और बम्बई में दोनों साथ ही मिलकर व्यवसाय करते थे। पर वह उन्हें बराबर धोखा देने के फेर में रहता था। भले-भले आदमियों के बीच में इनका सम्मान देखकर भी वह चिढ़ता था, ऐसा उन्होंने मुझे बताया था। अंत में मौका पाकर उसने

इनके पीठ-पीछे छुरी चला ही दी !" कहते हुए राधा की आँखों से फिर एक बार आँसू छलक पड़े।

मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं किन शब्दों में उसे सांत्वना दूँ। पर कुछ कहना आवश्यक था।

"चिंता की कोई बात नहीं है। मुझे विश्वास है कि वह अदालत से छूट जायगा। यदि उसका कोई अपराध न होगा, तो मनगढ़न्त प्रमाणों के आधार पर उसे सजा नहीं दी जा सकती।"

"भगवान आपकी वाणी सफल करे, मेरी तो तब से नींद भूख जाती रही है। मेरा वश होता तो मैं सदा के लिये इन्हें अपने पास बाँधकर रखती। पर यह जनम के आवारे और अभागे हैं, कभी एक स्थान में जमकर नहीं रह सकते। न जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन चक्करों में रहते हैं! अपनी कोई भी भीतरी बात मुझे इन्होंने कभी नहीं बतायी। इतने बरसों से इनकी मेरी पहचान है, पर इन्होंने कभी मुझे विश्वास-योग्य नहीं समझा। यह मैं मानती हूँ कि मुझ पर इनका सबसे अधिक विश्वास रहा है, पर इनका स्वभाव ही भगवान ने कुछ ऐसा बनाया है कि अपने निकट से निकट व्यक्ति के आगे भी वह कभी अपने भीतर की बात पूरी तरह से खोलकर नहीं कह पाते। ऐसा निपट अकेला आदमी तो मैंने दूसरा देखा ही नहीं। जब यह स्कूल में पढ़ते थे तभी से घरवालों से इन्होंने संबन्ध तोड़ दिया था—किस सुख के लिए, यह भगवान ही जाने। और बाहर के किसी भी आदमी को यह कभी अपना नहीं बना पाये। और यदि कभी किसी ने इनको अपनाया भी यह उसे पूरी तरह अपने को नहीं सौंप पाये।

"मैं क्या बताऊँ, कितनी ही बार मैंने इनसे कहा कि अब तुम्हें इधर-उधर भटकने की क्या जरूरत है, कहीं एक जगह नौकरी कर लो और मैं सब कुछ छोड़ कर तुम्हारी सेवा के लिये बराबर तुम्हारे ही साथ रहा करूँगी। एक बार तो यह राजी हो गये थे। यहाँ तक कि विवाह

की तारीख भी इन्होंने तय कर ली थी। पर ऐन मौके पर बिना किसी से कुछ कहे-सुने न जाने कहाँ गायब हो गये! एक महीने बाद लंका से इनकी चिट्ठी आयी जिसमें इन्होंने बड़े ही करुण शब्दों में बार-बार मुझ से क्षमा माँगी थी और लिखा था—'आवारापन मेरा स्वभाव बन गया है, जिसके कारण मैं लाचार हूँ और मैं अब अच्छी तरह समझ गया हूँ। अपने इस स्वभाव को छोड़ सकना मेरे लिए असम्भव है!' उनका वह पत्र पढ़कर मुझे रोना भी आया और हँसी भी आयी। मैंने मन ही मन उन्हें तत्काल क्षमा कर दिया। मैं जानती हूँ कि ऐसे मामलों पर कोई भी स्त्री किसी पुरुष को क्षमा नहीं कर सकती और स्वयं मैं भी किसी दूसरे को क्षमा न करती। पर—इनकी बात ही कुछ और है। इनके निपट अकेलेपन का स्मरण जब मुझे हो आता है तब इनका अक्षम्य से अक्षम्य अपराध भी मैं आसानी से क्षमा कर दूँगी, ऐसा लगता है। इन्होंने अपने भगोड़ स्वभाव के कारण कितना परेशान किया है—और आज तक करते चले जा रहे हैं—यह आपको मैं समझा नहीं पाऊँगी। पर इस भारी परेशानी के बावजूद मेरा मन उनकी ओर से तनिक भी नहीं हटा है, अपनी इस मूर्खता को मैं क्या करूँ!"

नारी-स्वभाव की इस कोमलता और विवशता पर मेरा हृदय हिल उठा और किसी प्रकार सान्त्वना देकर उस समय राधा से मैंने विदा ली।

उस घटना के प्रायः दो साल बाद केसरी से मेरी भेंट हुई इलाहाबाद में, न जाने कहाँ से मेरा पता मालूम करके वह एक दिन अकस्मात मेरे यहाँ आ धमका, वह खाकी जीन का हाफ पैंट उसीका 'शर्ट' और उसीका कोट पहने था। कहना न होगा कि कलकत्ते वाली घटना के बाद उसे सहसा अपने सामने पाकर मुझे आश्चर्य के साथ ही हार्दिक प्रसन्नता भी हुई।

"कहो मित्र, आज अचानक तुम कहाँ से आ टपके? उस मामले में तुम पर कैसी बीती?"

"कुछ नहीं, उसमें होना क्या था! मेरे बंबई के 'मित्रों' ने अलग-अलग एक ही ढंग की नालिशें, करीब-करीब एक ही समय में मेरे विरुद्ध कर दी थीं। सभी ने गबन का अभियोग मुझ पर लगाया था। जज समझदार निकला। उसने आज्ञा दी कि मुझे उसी जिले में ले जाया जाय जहाँ कि मेरी पैदाइश है और वहाँ छः महीने के लिये मुझे कड़ी कैद की सजा दी जाय। फल यह हुआ कि मुझे घर पहुँचाया गया। वहाँ अपने रिश्तेदारों से मिलने का अच्छा मौका मुझे प्राप्त हो गया—वर्ना इस जन्म में उन लोगों से कहाँ भेंट हो पाती। न मैं कभी अपनी इच्छा से घर जाता, न वे मेरा पता लगा सकते थे। जेल से छूटते ही मुझे फिर एक नयी इंश्योरेन्स कंपनी में नौकरी मिल गयी है। नौकरी अच्छी है। कंपनीवाले दो सौ रुपया वेतन देते हैं और इसके अलावा इधर-उधर दौरा करते रहने से टी० ए० मुझे मिल जाता है वह घाते में। तुम सुनाओ अपनी। यहाँ क्या कर रहे हो!"

मैं उसकी मानसिक स्थिरता और उसके स्वभाव की अपरिवर्तन-शीलता देखकर दंग था। अपना हाल बताने के बाद मैंने व्यंग्य के रूप में पूछा—"तुम्हारी राधा का क्या हाल है, कुछ पता लगा?"

वह अपनी चिर-परिचित मुद्रा में हँसा। बोला—"उसी के चक्कर में यहाँ आया हूँ। वह आजकल यहीं है—एक राजा के साथ। हालाँकि उसने खास तौर से मुझे राजा साहब के यहाँ जाने से मना कर दिया है—इस संकेत के साथ कि मेरे वहाँ जाने पर उसकी 'पोजीशन' खराब हो जायगी; राजा साहब को मेरी और उसकी घनिष्ठता का परिचय मिलने पर वह उनकी नजरों में गिर जायगी। फिर भी मैं एक बार उससे मिले बिना न रहूँगा।"

मुझे फिर एक बार इस बात का अनुभव हुआ कि मेरा वह चिर-विचित्र मित्र अपनी लगन का कितना पक्का है! न संघर्षमय जीवन की

परिस्थितियों का निर्मम चक्र और न समय की प्रवादनशीलता ही उसे अपनी धुन से हटाने में समर्थ हैं।

मैंने उसे चाय-वाय पिलायी। उसके बाद वह चला गया। दूसरे दिन सुबह फिर मेरे पास पहुँच गया। उसने बताया कि राजा साहब के दो-एक नौकरों को अपने साथ मिलाकर उसने राधा से मिलने का ऐसा समय निर्धारित कर दिया था कि वह बेतकल्लुफी के और इतमीनान से उससे मिल आया।

"राधा क्या तुम्हें देखकर प्रसन्न हुई ?"

"पहले तो वह इस बात से बहुत असंतुष्ट हुई कि उसके मना करने पर भी मैं उससे मिलने चला गया। पर बाद में उसने कहा—'अच्छा ही हुआ जो तुम मिल लिये। जब से तुम्हें पुलिस बंबई पकड़ ले गयी तब से एक बड़ी भारी बेचैनी मेरे मन में बनी हुई थी। उसके बाद तुममें कितना बदलाव हो गया है, यह देखने की बड़ी इच्छा थी। पर देखती हूँ तुम वैसे के वैसे ही हो। न तुम्हारे रूप रंग में और न स्वरूप ही में कोई अंतर मुझे दिखायी देता है, कब बदलोगे तुम ? भगवान क्या कभी ऐसा दिन नहीं दिखायेगा जब तुममें सयानापन आयेगा ? या जीवन-भर बच्चे के बच्चे ही रह जाओगे ?' ऐसा कहते हुये उसने मेरी ठुड्डी को बड़े स्नेह से अपनी उँगलियों से छुआ और फिर उसकी मुसकान से भरी आँखों में आँसू की दो बूँदें छलक आयीं......।"

यह बताते हुए वह हँसने लगा। मैं यह सोचकर मर्माहत हो रहा था कि अपने प्रति नारी-हृदय की इतनी बड़ी वेदना ऐसी मार्मिक स्नेह-विह्वलता के फूट पड़ने की बात को वह एक अच्छे विनोद के रूप में ग्रहण कर रहा था !

मैंने खीझकर कहा—"उसके इस स्नेहपूर्ण तिरस्कार से क्या तुम्हारे मन में तनिक भी लज्जा उत्पन्न नहीं हुई ?"

"इसमें मेरे मन में लज्जा उत्पन्न होने की कौन-सी बात थी? लज्जित तो उसको होना चाहिए था, जो वह राजा साहब को न चाहने पर भी, केवल पैसे के लोभ से उनका पल्ला पकड़े हुए है…" इस बार उसकी आँखों में इतनी देर तक दबी हुई ईर्ष्या और आक्रोश की भावना स्पष्ट झलक उठी थी।

मैंने कहा—"यह कोई नयी बात नहीं है। तुम्हें मालूम है कि यह उसका पेशा है। और पेशे के बावजूद वह इतने दिनों तक तुम्हें अपना आंतरिक स्नेह देती आयी है, तुम जैसे आवारा आदमी के प्रति जिससे उसने कभी किसी प्रकार की आर्थिक प्राप्ति की आशा नहीं की, उसकी सहृदयता का कोई अंत नहीं रहा है। आज भी वह तुम्हारी दयनीय दशा पर आँसू बहाती है। यह क्या कोई साधारण बात है? अपना पेट पालने का कोई दूसरा तरीका ढूँढ निकालने में अब वह असमर्थ है। न चाहने पर भी वह उसी पेशे को अख्तियार करने के लिये बाध्य है, जिसकी आदत वह अपनी परिस्थितियों की विवशतावश डाल चुकी है। इसके लिए तुम अपने स्वभाव की कृतघ्नतावश उसे क्षमा न करके उसे निर्लज्ज बताते हो! धिक्कार है तुम्हें!"

वह कुछ क्षणों तक मेरी ओर देखता रहा, जैसे मेरी बातों का ठीक-ठीक अर्थ समझने का प्रयत्न कर रहा हो। उसके बाद अपेक्षाकृत शांत भाव से बोला—'देखो मित्र, तुमने जो कुछ कहा, उसका महत्त्व मैं न समझता होऊँ, ऐसी बात नहीं है पर तुम्हें शायद इस बात की खबर नहीं है कि राधा अपने पेशे से इतना रुपया कमा चुकी है जो उसकी तीन पीढ़ियों तक के लिये काफी होगा। आज तक उसने जिस तरह का पेशा अख्तियार कर रखा था उसके लिए मैं उसे दोषी नहीं ठहराता। यह मैं माने लेता हूँ कि यह उसकी विवशता थी। पर अब उसी पेशे को किसी-न किसी रूप में जारी रखना—इसका भी कारण उसकी विवशता है यह मानने के लिए मैं कदापि तैयार नहीं हूँ।…"

"तब तुम इसका कारण क्या समझते हो ?"

"इसका कारण एक तो वही है जो तुमने अभी बताया—पुरानी आदत, और दूसरा कारण है नारी स्वभाव की चंचलता। राधा के भीतर कई विचित्र प्रकार की महत्त्वाकांक्षाएँ भरी हैं, पर अपने स्वभाव की चंचलता के कारण वह उनमें से एक की ओर भी पूरी लगन से आगे नहीं बढ़ पाती। सिनेमा के क्षेत्र में प्रवेश करके उसने अपनी असफलता की भावना पर किसी हद तक विजय पाने का प्रयत्न किया था; पर धैर्य के अभाव से वह वहाँ भी न टिक पायी। दो-एक फिल्मों में काम करने के बाद जब उसने देखा कि उसकी शोहरत नहीं फैल पायी तब उसे विश्वास हो गया कि वह इस क्षेत्र के योग्य नहीं है और उसके बाद उसने फिर किसी अच्छी कंपनी से संबन्ध जोड़कर किसी नयी फिल्म में उतरने का उद्योग नहीं किया। मुझे पूरा विश्वास है कि उसमें फिल्मी योग्यता की कमी कभी किसी दृष्टिकोण से नहीं रही, पर दुर्भाग्य उसने जिन फिल्मों में काम किया उनमें न तो कहानी किसी काम की थी न संचालक ही मौलिक सूझवाले थे। यदि सिनेमा के क्षेत्र में वह अपनी योग्यतानुसार अच्छी सफलता पा लेती तो मेरा विश्वास है कि उसके अव्यवस्थित जीवन में एक निश्चित स्थिरता आ गयी होती और उसके स्वभाव में एक उन्नत और प्रशांत गंभीरता। पर ऐसा नहीं होना था, आजकल जो उसने राजा साहब का घर सँभाला है यह भी उसकी किसी एक दबी हुई महत्त्वाकांक्षा की विकृत पूर्ति है। इस उपाय से वह अपने मन में यह कल्पना करके संतोष प्राप्त कर सकती है वह रानी! (वास्तव में राजा साहब ने उसे रानी के रूप में अपने पास नहीं रखा है। वह केवल उनकी एक अस्थायी प्रेमिका है, जैसी कि राजा-रईसों के यहाँ अक्सर पायी जाती हैं।) रानी, शब्द के पीछे एक विचित्र मनोवैज्ञानिकता निहित है, यह बात तुम भी स्वीकार करोगे। प्रत्येक नारी के भीतर जान में या अनजान में यह 'फैंटेजी' वर्तमान

रहती है कि वह अपने समाज में रानी की तरह सम्मान और पूजा पाती रहे। जिस नारी को वास्तविक जीवन में जितनी ही अधिक असफलता, जितना अधिक 'फ्रस्ट्रेशन' प्राप्त होता है वह अपने 'फैंटेजी' लोक में अपने को रानी समझने के लिए उतनी ही अधिक आकुल रहती है। इसलिए राधा को जब राजा की प्रेमिका बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो वह उस प्रलोभन को त्यागने में स्वभावतः असमर्थ रही। राजा की प्रेमिका का अर्थ ही उसने लौकिक भाषा में रानी, लगाया, हालाँकि यह स्पष्ट है कि वह इस समय राजा की एक बाँदी से अधिक और कुछ नहीं है। जब वह मुझसे बातें कर रही थी तब मैं स्पष्ट देख रहा था कि प्रतिपल उसके मन में यह धड़का लगा हुआ था कि कहीं राजा साहब देख न लें। चूँकि इस स्थिति को उसने जानबूझ कर अपनाया है, इसलिये मैं उसके नारी-हृदय की स्नेह-विकलता को किसी भी हालत में कोई विशेष महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं हूँ। और—सबसे बड़ी बात यह है कि किसी की दया का पात्र बनने को कतई तैयार नहीं हूँ, मैंने उससे दया की भीख कभी नहीं माँगी, केवल उसका प्रेम चाहा है। पर अब मैं समझ गया हूँ कि उसमें और दूसरी वेश्याओं में कोई विशेष अंतर नहीं है..."

उसकी आँखों में एक तीव्र हिंसकता जैसे दहक रही थी। उसका ऐसा गुरु-गंभीर रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

मैंने देखा कि उससे तर्क करना व्यर्थ है। उसने अपने संस्कारों तथा जीवन के अनुभवों से जो अपने कुछ निजी सिद्धांत निर्धारित कर लिए थे उनसे उसे किसी तर्क द्वारा डिगाने में मैंने अपने को निपट असमर्थ पाया।

उसके बाद उसके साथ फिर एक बार मेरी भेंट सन्, ४१ में कलकत्ते में हुई। यह मेरी अंतिम भेंट थी। मैं गर्मियों में दार्जिलिंग से लौटते हुए कलकत्ते में कुछ समय के लिये ठहर गया था।

उसने बताया कि वह बीमा कम्पनी से सम्बन्ध त्याग चुका है और किसी एक व्यवसायी कम्पनी का 'टूरिंग एजेन्ट' है। मैंने न तो यह प्रश्न किया कि कम्पनी किस चीज का व्यवसाय करती है, न यह कि 'टूरिंग एजेन्ट' के हाथ में किस तरह के काम रहते हैं। पहला प्रश्न जो मैंने उससे किया वह यह था—"राधा का क्या हाल है? उसके साथ तुम्हारा पत्र-व्यवहार तो चलता ही होगा?"

वह बड़ी बेतकल्लुफी से मुस्कराया और बोला—"हाँ भाई, चाहने पर भी मैं उससे एकदम सम्बन्ध विच्छिन्न करने में असमर्थ रहा। वह मेरे जीवन से इस तरह जुड़ गयी है कि अपने भीतर से उसको उखाड़ कर अलग फेंक देने का अर्थ है मेरी मृत्यु। जिस दिन श्मशान में मेरी लाश जलायी जायगी उस दिन भी मेरी प्रत्येक चिटखती हुई हड्डी 'राधा! राधा!' की रट लगाती रहेगी। और यह बकना किसी भावुकता-वश मैं नहीं कर रहा हूँ, बल्कि बड़े ही ठंडे हृदय से विचार करके भावुकता को तुम्हारे आगे रख रहा हूँ..."

"पर आजकल वह है कहाँ?"

"लखनऊ में है, एक ताल्लुकेदार के साथ।"

"राजा साहब से क्या एकदम अलग हो गयी?"

"बहुत पहले। जब मैं तुमसे इलाहाबाद में मिला था, उससे तीन या चार ही मास बाद।"

"लखनऊ तुम कभी गये थे?"

"नहीं, पर पत्र-व्यवहार—बराबर जारी रहा है। जानते हो उसने ताल्लुकेदार साहब को मेरा क्या परिचय दिया है? उसने उन्हें बताया है कि मैं उसका भाई हूँ" उसने लिखा था कि ताल्लुकेदार साहब मेरे पत्रों पर आपत्ति प्रकट करने लगे थे, इसलिये उसे इस प्रकार का परिचय देने के लिये विवश होना पड़ा! इधर कुछ दिनों से इन सब राजा-

रईसों के विरुद्ध मेरे मन में भयंकर विद्रोह जग उठा है और वह दिन-पर-दिन बड़ा विकट रूप धारण करता चला जा रहा है।

"आजकल मुझे कभी कभी वामपंथी राजनीतिज्ञों के दल में मिल जाने की प्रेरणा होने लगती है।"

मुझे हँसी आयी। पर मैंने भरसक गम्भीर बनने की चेष्टा करते हुए कहा—"तुमने राजा-रईसों के विरुद्ध कभी कुछ नहीं कहा। तुम स्वयं कई बार उन लोगों की नौकरी स्वीकार कर चुके हो! तब आजकल विशेष कारण क्या आ गया?"

वह बोला—"तुम्हारा इंगित मैं समझ रहा हूँ। यह ठीक है कि इधर राधा के कारण इस विशेष वर्ग के विरुद्ध मेरे मन में ईर्ष्यावश क्रोध की भावना उत्पन्न हुई है, पर आज तुम्हारा ध्यान एक दूसरी बात की ओर भी मैं दिलाना चाहता हूँ। यदि तुम्हें कभी मेरे पिछले जीवन का विश्लेषण करने का अवकाश मिले तो तुम्हारी समझ में आसानी से यह बात आ जाएगी कि मैं आजीवन इस वर्ग का विरोधी रहा हूँ, मैंने राजा-रईसों के यहाँ नौकरी करके उनका कभी कोई उपकार नहीं किया। उनका पैसा फूँकने और उनके लड़कों को कुसंगति में फँसाकर भरसक बरबादी की ओर ढकेलने के अलावा मेरी नौकरी का और कोई दूसरा उद्देश्य कभी नहीं रहा है। जिन-जिन कंपनियों में मैंने काम किया है वहाँ या तो मैंने गबन किया है या जालसाजी और भरसक प्रत्येक कम्पनी को बदनाम कराने और उसे नये-नये आर्थिक चक्रों में फँसाकर परोक्ष रूप से उसकी जड़ खोदने में मैं सहायक सिद्ध हुआ हूँ। यह मैं मानता हूँ कि विद्रोह या विरोध प्रकट करने या अपनी प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति को संतुष्ट करने का यह ढंग अनोखा और विकृत है। पर विकृत हो या सुकृत, ज्ञान में हो या अज्ञान में, वह है अपने अंतर के विद्रोह की ही प्रतिक्रिया। आज राधा ने उस विद्रोह को मेरे भीतर स्पष्ट और निश्चित रूप दे दिया है, पर उसने नया बीज मेरे भीतर नहीं बोया है, बल्कि मेरे

भीतर के ही बीज को विकसित और परिस्फुटित किया है। यह ठीक है कि मेरी यह विद्रोहात्मक प्रवृत्ति केवल समाज के विरुद्ध ही नहीं रही है, बल्कि उसने मुझसे स्वयं प्रति विद्रोह करवाया है, जिसका परिणाम तुम अपनी आँखों से देख रहे हो, मैं एक लुढ़कते हुए पत्थर की तरह आज कहीं का भी नहीं रह गया हूँ—न घर का न समाज का। धोबी के कुत्ते का-सा मेरा यह जीवन निश्चय ही कभी-कभी तुम्हें भी दयनीय लगा होगा। पर मैं पहले भी तुम्हें बता चुका हूँ कि मुझे कभी किसी की दया का भिखारी रहना पसंद नहीं रहा और धोबी का वही कुत्ता आज अपनी स्थिति की यथार्थता समझ कर विद्रोही हो उठा है, और काट खाने की शक्ति वह अपने में बटोर रहा है। इसका परिणाम क्या होगा, वह केवल पागल कुत्ता बनकर रह जायगा या युग की प्रवृत्तियों का एक उत्तर-दायित्वपूर्ण रक्षक; यह समय ही बता सकता है।"

मैं सुनकर दंग रह गया। मैं सोचने लगा कि उस निपटस्वार्थी 'आवारे' के भीतर अपने निरर्थक और निरुद्देश्य जीवन की बिखरी घटनाओं को एकदम नये प्रकाश में रखने की वह असाधारण प्रतिभा इतने दिनों तक कहाँ छिपी पड़ी थी? यह तो मेरे आगे स्पष्ट ही था कि वह अपने किसी भी विद्रोह को कभी कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकेगा क्योंकि उसके समान अहंत्व में गर्क व्यक्ति कभी अपनी अंतरीण शक्तियों को बटोर कर न कभी सामूहिक उन्नति में समाज का साथ दे सकता है और न कभी समाज की परम्परागत कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध संगठित मोर्चा खड़ा कर सकता है। किसी भी विद्रोह के जो असाधारण बीज उसके भीतर वर्तमान हैं वे वास्तव में हैं कैसे प्रचंड शक्तिशाली और भयंकर! पर—

"बाबू जी!"

मेरे विचारों का तार सहसा टूट पड़ा और मैं चौंक-सा उठा। देखा, डाकिया एक चिट्ठी दे गया। केसरी ने लपककर उसे उठाया और

लिफाफा फाड़कर, चिट्ठी निकालकर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते उसके चेहरे का वह विभीषिकापूर्ण, प्रतिहिंसात्मक रूप कपूर की तरह विलीन हो गया और एक विशुद्ध हर्ष की-सी अनुभूति से उसका सारा मुख प्रदीप्त हो उठा।

जब वह समाप्त कर चुका तब मैंने पूछा—"किसका पत्र है?"

"राधा का," उसने पुलक-विह्वल, गद्‌गद स्वर में कहा—"लिखती है कि वह शीघ्र ही कलकत्ते आ रही है और अब सदा के लिये वह यहीं रहने का विचार करती है। ताल्लुकेदार साहब से उसकी खटपट हो गयी है, ऐसा उसने लिखा है।" उसकी आँखों से प्रसन्नता जैसे चू पड़ती थी।

यह था वह एक मिनट पूर्व का विद्रोही जो सारे समाज को पागल कुत्ते की तरह काट खाना चाहता था और अब केवल एक नारी का पत्र पाने से सारी दुनिया को बदला हुआ समझ रहा था। तिस पर भी वह नारी-हृदय की महत्ता को स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

